* ओ३म् *

ऋभु देवता

भगवद्दत्त वेदालङ्कार

श्री चमूपति-साहित्य-विभाग के उद्देश्य

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब, के अधीन प्रकाशन-सम्बन्धी दो विभाग थे, एक का नाम था 'अनुसन्धान-विभाग' और दूसरे का 'साहित्य-विभाग'। कार्य की सुविधा को लक्ष्य में रखकर श्रीमती सभा ने अपने ३-१-११५ के अ तरंगसभा—अधिवेशन में दोनों को मिलाकर एक कर दिया है, और उसका नाम 'श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग' रखा है।

उसके उद्देश्य निम्नलिखित निश्चित हुए हैं—

(क) वैदिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अन्वेषण करना और उसके परिणाम को प्रकाशित करना।

(ख) आर्यसमाज के सिद्धान्तों की पुष्टि में ग्रन्थ लिखवाना और प्रकाशित करना।

... आर्यसमाज के मन्तव्यों के विरुद्ध लिखे गए ग्रन्थों के उत्तर ...खवाना और प्रकशित करना।

... सामाजिक साहित्य का गवेषणात्मक दृष्टि से विचार ... उसके परिणाम को प्रकाशित करना।

... ामग्री संग्रह करना। यथा—

... ओं के संबन्ध में विचार करना।

... की, विविध भाषाओं में, व्याख्याएँ

... ाद प्रकाशित करना।

... तय्यार करवाना।

... ाणिक व्याख्यान

... भाषाओं

श्रीच...

६ मार्गशीर्ष, १९९८

मूल्य ॥)

* ओ३म् *

देवताबोधग्रन्थमाला पुष्प—४.

ऋभु देवता

[जिसमें ऋभु देवता के स्वरूप आदि का शास्त्रीय रीति से विचार किया गया है]

लेखक

श्री प० भगवद्दत्त वेदालङ्कार

श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग,

(आर्य प्रतिनिधि सभा)

गुरुदत्त भवन, लाहौर

९ मार्गशीर्ष, १९९६

मूल्य ॥)

प्रकाशक—

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

अध्यक्ष—श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग,

(आर्य प्रतिनिधि सभा)

गुरुदत्त भवन, लाहौर।

प्राप्तिस्थान—

श्री चमूपति-साहित्य-विभाग,

(आर्य प्रतिनिधि सभा)

गुरुदत्त भवन, लाहौर

मुद्रक—

श्रीयुत प्रकाशचन्द्र

दी आर्य प्रैस, लिमिटेड,

१७, मोहनलाल रोड, लाहौर।

ओम्

प्रकाशक का निवेदन

सरलतम वेदों में पण्डित लोगों ने देवताविषयक वाद-विवाद खड़ा करके अनजान में वेदों को दुरूह तथा दुर्बोध बनाने की चेष्टा की है। जिससे जन-साधारण वेद से घबराने लग गए हैं। इस अड़चन को हटाने के लिए आर्य्य प्रतिनिधि सभा के श्री चमूपति-साहित्य-विभाग ने देवता-विषयक ग्रन्थ लिखाने का प्रबन्ध किया है।

इस विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार के लिखे सोम, मरुत् और स्वर्ग विषय के तीन लघु ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। चौथा 'ऋभु देवता'-नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

इस विषय के कई अन्य ग्रन्थ भी लिखे हुए प्रस्तुत हैं, उनके प्रकाशन का भी शीघ्र प्रबन्ध किया जाएगा।

गुरुदत्त भवन,
लाहौर
८ मार्गशीर्ष, ११५ द०

स्वामी वेदानन्दतीर्थ
श्री चमूपति-साहित्य-विभागाध्यक्ष

प्राक्कथन

लोगों ने वेद को जितना जटिल और कठिन समझ रखा है, उसका लाखवाँ हिस्सा भी वेद जटिल या कठिन नहीं है। वेद की प्रतीयमान जटिलता या कठिनता का पहला कारण हम वेदानुयायिओं, वेदाभिमानियों का आलस्य एवं प्रमाद है। हम 'वेद-वेद' चिल्लाते हैं, किन्तु वेद पढ़ते नहीं। यदि हम वेद पढ़ने लग जाएँ, तो हमारा यह भ्रम दूर हो जाए। कठिनता प्रतीत होने का दूसरा हेतु पंडित कहलाने वाले लोग हैं। इन संस्कृतज्ञ पंडित लोगों की अधिक संख्या ऐसी है, जिसने वेदपुस्तक के दर्शन भी कभी नहीं किए, उसे पढ़ने की बात तो दूर रही। यह महात्मा, लोगों को वेद से सदा डराते रहते हैं। इसका परिणाम यह है कि पर्याप्त काल से वेद एक बन्द पुस्तक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का धन्यवाद है, उन्होंने उस बन्द पुस्तक को खोलकर जनता के आगे रखा। उन्होंने संस्कृत के साथ भाषा में भी अनुवाद कर दिया, ताकि साधारण जनता भी उससे लाभ उठा सके। स्वामी जी के इस शुभ कृत्य का बहुत सुन्दर परिणाम निकला है। आज भारतवर्ष में सौ वर्ष पूर्व की अपेक्षा वेद-चर्चा कहीं अधिक है। इस वेद-चर्चा में वेद के माननेवाले तथा न माननेवाले दोनों सम्मिलित हैं। जब दो परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणवाले किसी विषय को लेकर वाद-विवाद करते हैं, तो मतभेद,

सिद्धान्त-भेद का होना अनिवार्य्य-सा हो जाता है। इस पारस्परिक विरुद्ध-सिद्धान्त-चर्चा का एक विषय है—'वेद के देवता'। इस चर्चा को शास्त्रीय पुट देने के लिये श्री चमूपति-साहित्य-विभाग ने वेद के विभिन्न देवताओं पर ग्रन्थ लिखवाने का उपक्रम किया है, ताकि विद्वान् तथा सामान्य जनता प्राचीन वैदिक ऋषियों का पक्ष जान सके।

श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार श्री चमूपति-साहित्य-विभाग में काम करते हैं। आपने वेद के 'ऋभु देवता' पर पर्य्याप्त मनन करके एक महानिबन्ध तय्यार किया है। उसमें पूर्वोत्तर पक्षद्वारा सिद्धान्त का निश्चय करने की उन्होंने सफल चेष्टा की है। यद्यपि उनकी यह पहली कृति है, तथापि बहुत अच्छी बनी है। पण्डित जी ने कई वर्षों के परिश्रम के पश्चात् यह पुस्तक लिखी है। पुस्तक के अन्त में ऋभु देवता सम्बन्धी मन्त्रों के अर्थ भी दे दिए गए हैं, इससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। आशा है, विद्वान् सज्जन पण्डित जी के इस प्रथम प्रयत्न को समादर की दृष्टि से अपनाएँगे।

स्वामी वेदानन्दतीर्थ

ऋभु-देवता पर सम्मति

वेद आर्य-जाति के लिये अपौरुषेय धर्म्मज्ञान का आदिम धर्म पुस्तक है। इसी लिये ऋषि दयानन्द ने वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परमधर्म्म बताया है। इतना होने पर भी ऋषि दयानन्द के पदचिह्नों पर चलने का अभिमान रखनेवाले आर्यों में बहुत ही कम ऐसे सज्जन मिल सकते हैं, जिनका हार्दिक झुकाव वैदिक स्वाध्याय की ओर हो। किसी सज्जन को वैदिक वाङ्मय के अनुसन्धान में लगा हुआ देखना तो दुर्लभप्राय है।

पिछले सतवारे गुरुदत्त भवन में आने पर यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्नातक भगवद्दत्त जी वैदिक "ऋभु देवता" विषय पर एक गवेषणा पूर्वक निबन्ध लिख रहे हैं। मेरे अनुरोध करने पर आपने उक्त निबन्ध का बहुत-सा अंश स्वयं पढ़कर सुनाया। इसमें कोई संदेह नहीं कि अभी तक हम लोग वैदिक वाङ्मयी सरस्वती के बहिर्द्वार पर ही खड़े होकर अन्दर की ओर झांक रहे हैं, किन्तु विश्वास होता है कि, यदि हम दृढ़ता और विश्वास के साथ इस द्वार पर जमे रहे तो, ऋषि दयानन्द ने जितना प्रकाश देकर हमें आगे बढ़ने का आदेश और अधिकार दिया है, उसका सदुपयोग करते हुए समय पाकर उतने प्रकाश से ही हम इसका अन्तस्तल भी देख सकेंगे।

वैदिक वाङ्मय में प्रत्येक छन्द, ऋषि एवं देवता अपना-अपना एक निश्चित स्थान रखते हैं। वैदिक देवतों में से ऋभुओं का समुचित स्थान शिल्पिमण्डल समझा जाता है, और समझा जाना चाहिए। स्नातक जी ने इसी धारणा को अपनाया है और इसी को पुष्ट तथा प्रमाणित करने के लिये उक्त निबन्ध लिखने में विश्वसनीय प्रयास किया है। मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि, आपने अपने इस सर्व-प्रथम और नूतन प्रयास में अच्छी सफलता प्राप्त की है। पढ़नेवालों को इस निबन्ध में विचारने के लिये भरपूर सामग्री, नूतन विचार-धारा और नवीन जानकारी मिलेगी। प्रभु से प्रार्थना है कि, इस होनहार युवक को जीवन, सामर्थ्य और योग्यता प्रदान करें कि वह अपने इस धार्मिक एवं मङ्गल प्रयत्न में सर्वांगीण दृढ़ता, सफलता और पूर्णता प्राप्त करे।

शुभाशीर्वाहक—
शान्तस्वामी अनुभवानन्द

ऋभु देवता का स्वागत

विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि वेदों का सच्चा भाष्य होने के लिये वैदिक देवताओं का तत्त्व-निर्णय आवश्यक है। यह भी स्पष्ट है कि इस तत्त्व-निर्णय में जहाँ तक हम सीधी वेद की अन्तरीय साक्षी लेकर उसके आधार पर निर्णय करेंगे उतना ही वह अधिक प्रामाणिक होगी। मेरी इच्छा थी कि वेद-भाष्य करने से पहिले सम्पूर्ण देवताओं के सम्बन्ध में इस प्रकार के ग्रन्थ तय्यार हो जावें। इसी भावना से मैंने सोम तथा मरुत् देवता और तत्सम्बन्धी स्वर्ग शब्द पर तीन छोटे-छोटे पुस्तक लिखे थे। फिर जब अवस्थाओं से बाधित होकर वेद-भाष्य का कार्य शीघ्र ही आरम्भ करना पड़ा, उस समय मैंने यह यत्न किया कि यह कार्य साथ ही साथ होता रहे। इसी भावना से मैंने (जब मैं अनुसन्धान विभाग का अध्यक्ष था उन दिनों) श्री पं० भगवद्दत्त जी वेदालङ्कार से ऋभु देवता के सम्बन्ध में खोज करने की प्रार्थना की। साथ ही जो बीज-रूप सामग्री मेरे पास थी वह उनके अर्पण कर दी। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि श्री ˙० जी ने उसे अत्यन्त परिश्रम से पल्लवित और पुष्पित किया है। यह सुनकर मुझे और भी प्रसन्नता हुई है कि उनका यह परिश्रम अब पुस्तकाकार होकर आर्य जनता के सामने आरहा है। पुस्तक इस योग्य है कि वैदिक स्वाध्याय के हितैषी इसे

अवश्य अपने पास रक्खें। मुझे यह भी पूर्ण आशा है कि अनुसन्धान-विभाग से अन्य देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की पुस्तकें निकलती रहेंगी। परमात्मा इस होनहार नवयुवक लेखक को सदा सफलता दें, यही मेरी प्रार्थना है।

गुरुकुल काङ्गड़ी
२-८-९६

बुद्धदेव विद्यालङ्कार

दो-शब्द

विद्वद्वृन्द !

मैं आज आपके सामने वेदान्तर्गत ऋभु-देवता-विषयक छोटी-सी पुस्तिका लिये हुए उपस्थित हुआ हूँ। कहाँ यह अनन्त-अथाह-वेदपारावार और कहाँ मैं अल्पवयस्क, अल्पज्ञ तथा अल्पश्रुत साधारण व्यक्ति। मेरे अन्दर कोई ऐसी प्रतिभा नहीं जिससे कि मैं उस सर्वसत्यविद्याओं के भण्डार वेद को समझ सकूँ। वेदान्तर्गत सर्वसत्य विज्ञानों का समझना और प्रकाशन करना उन दिव्यज्योति ऋषि-महार्षियों का ही काम है। परन्तु विलुप्त-वैदिकमर्यादा के पुनरुद्धार में हाथ बटाना प्रत्येक आर्य का परमकर्तव्य है, इस भावना से और वेद में किये गये निरन्तर परिश्रम की प्रेरणा से मैं आपके समक्ष आने का साहस कर सका हूँ। इस निबन्ध में अनेकों अंश परिवर्तनीय होंगे और कई स्थलों पर यह त्रुटिपूर्ण और दोषपूर्ण भी होगा। आप-जैसे उदार-हृदय नीर-क्षीर-विवेकी राजहंस उपादेय अंश को ग्रहण करेंगे और अनुपादेय अंश का परित्याग कर देंगे, ऐसी मुझे आशा है।

इसलिये सबसे प्रथम मैं उस सर्वसत्यविद्याओं के स्रोत जगन्नियन्ता परमपिता परमात्मा का धन्यवाद करता हूँ। तदनन्तर वेदों के अनुपम विद्वान् श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार (भूतपूर्व अध्यक्ष अनुसन्धान-विभाग) का हार्दिक

धन्यवाद करता हूँ, जिनकी अध्यक्षता में मैंने यह ऋभु देवता पर कार्य शुरू किया। उन्होंने मुझे पग-पग पर सहायता दी। एक प्रकार से उन्होंने मुझे वैदिकानुसन्धान-यज्ञ में दीक्षित किया है। इसलिये मैं उनका जितना भी धन्यवाद करूँ सब थोड़ा है। साथ ही श्री पं० प्रियव्रतजी वेदवाचस्पति (आचार्य दयानन्दोपदेशक विद्यालय) का भी अनेकशः धन्यवाद करता हूँ, समय-समय पर जिनके सत्परामर्शों से मैंने कई गुत्थियाँ सुलझाईं। तदन्तर मैं श्रीमन्महात्मा शान्तस्वामी अनुभवानन्द जी महाराज का भी कोटिशः धन्यवाद करता हूँ, जिन्होंने मेरे आग्रह पर मेरे निबन्ध को बड़े दत्तचित्त होकर आद्योपान्त श्रवण किया, और अनेकों स्थलों पर कई उत्तम परामर्श दिए। अन्त में मैं श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी महाराज (अध्यक्ष श्री चमूपति-साहित्य-विभाग) का अत्यन्त हार्दिक धन्यवाद करता हूँ, जिनकी छत्रछाया में यह कार्य समाप्त हुआ है। और उन्हीं के प्रोत्साहन का यह फल है कि यह निबन्ध इतने शीघ्र पुस्तकाकार में आपके समक्ष उपस्थित हो सका है।

कृपाकांक्षी—

भगवद्दत्त वेदालङ्कार

विषय-सूची

सं०	विषय		पृष्ठ
१.	ऋभुओं का मर्त्यत्व	...	१
२.	ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति	...	६
३.	ऋभुओं का त्रित्व	...	६
४.	ऋभुओं का पारस्परिक सम्बन्ध	...	८
	सौधन्वनाः	...	११
५.	ऋभुओं की इतर देवताओं से विशेषतायें	...	१५
	तक्षण	...	१६
	तक्षधातु का विस्तार	...	१७
	भौतिक पदार्थों का तक्षण	...	१७
	आध्यात्मिक गुणों का तक्षण	...	१७
	बुद्धि का तक्षण	...	१८
	मनुष्य का तक्षण	...	१८
	सृष्टि का तक्षण	...	१८
	वैदिक वाङ्मय का तक्षण	...	१८
	सुकृतः सुहस्ताः	...	१९
	सत्यमन्त्राः	...	२१
	विभ्रनापसः	...	२२
	सुषुप्वांसः	...	२२
	ससन्तः	...	२२
	ऋजूयवः	...	२३
	अपाकाः	...	२३

सं०	विषय		पृष्ठ
	उपमं नाधमानाः	...	२४
	प्रतिजूतिवर्पसः	...	२४
	मनोर्नपातः	...	२४
	मधुप्सरसः	...	२४
६.	ऋभुओं के अवदान	...	२५
७.	आख्यान आदि	...	२६
८.	ऋभुओं का स्वरूप	...	२९
	आधिदैविक ऋभु	...	३२
	आध्यात्मिक ऋभु	...	३३
	अधिराष्ट्रिय ऋभु	...	३३
९.	ऋभुओं की परस्पर विशेषता	...	३६
	ऋभु	...	३६
	विभ्वा	...	३७
	वाज	...	४०
१०.	ऋभुओं का गुरु त्वष्टा	...	४३
	उत्पत्ति शास्त्र का वेत्तात्वष्टा	...	४६
	वर-वधु का निर्वाचन	...	४८
	त्वष्टा वैद्य के रूप में	...	५१
	शिल्पी त्वष्टा	...	५३
	रूपकृत्	...	५४
११.	इन्द्र के हरा	...	५५
	ऋग्वेद	...	६१
	साम	...	६२
१२.	ऋभु सूक्तों में रथ	...	७०

सं०	विषय		पृष्ठ
१३.	गौ माता	...	७९
	आधिदैविक क्षेत्र	...	८१
	आध्यात्मिक क्षेत्र	...	८२
	सायणाचार्य और गौ	...	८२
	विलसन	...	८३
	ग्रिफिथ	...	८४
	गौ और धेनु की पृथकता	...	८४
	निश्चर्मा गौ	...	८७
	गौ के साथ वत्स का संसर्ग	...	८९
१४.	विश्वरूपा धेनु	...	९३
	सायण तथा योरोपियन विद्वानों का मत	...	९४
	विश्वरूपा का वास्तविक स्वरूप	...	९५
	बृहस्पति कौन है ?	...	९५
१५.	ऋभुओं के पितर	...	१०१
	द्यावापृथिवी भी पितर कहाते हैं	...	१०५
	ऋभुओं के स्वरूप तथा कार्यों को दृष्टि में रखते हुए पितरों का स्वरूप-निर्णय	...	१०६
	पितरों का जीर्ण होना	...	१०८
	पितरों का युवा होना	...	१०९
	द्यावापृथिवी अर्थ होने से मन्त्रों की सुसंगति	...	११०
१६.	चमस	...	११२

सं०	विषय		पृष्ठ
	आधिदैविक क्षेत्र	...	११३
	आध्यात्मिक ,,	...	११४
	अधिराष्ट्रिय	...	११५
	चमस के चार विभाग	...	११७
	आधिदैविक	...	११८
	आध्यात्मिक	...	११६
	अधिराष्ट्र	...	११९
	देवपान-चमस	...	१३०
१७.	तीन सवन	...	१३४
	प्रातः सवन	...	१३६
	माध्यन्दिन सवन	...	१३७
	तृतीय सवन	...	१३६
१८.	सोमपान	...	१५१
१६.	इक्कीस रत्न	...	१५३
	ऋभुदेवताक-सूक्तानि	...	१५५-१६६

---

* ओ३म् *

ऋभु देवता

१. ऋभुओं का मर्त्यत्व

ऋभु देवता के विषय में सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि क्या ऋभु पौराणिक गाथाओं के अनुसार मनुष्येतर अलौकिक जीव हैं, अथवा इहलौकिक मानवीय जीव ?

पूर्व-पक्ष—सायणाचार्य आदि पौराणिक वेदभाष्यकारों का मत है कि ऋभु अलौकिक जीव हैं।

उत्तर-पक्ष—परन्तु हमारा पक्ष यह है कि ऋभु मानवीय जीव हैं। इस बात की पुष्टि के लिये निम्न ११ स्थानों पर 'नृ' शब्द ऋभुओं के विशेषण-रूप से आता है—

ऋग्वेद १।११०।६, १।११०।८, १।१११।३, १।१६१।११, ३।६०।१, ३।६०।५, ४।३३।६, ४।३४।४, ४।३४।५, ४।३४।६, ४।३६।५॥

परन्तु इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि 'नृ' शब्द केवल मनुष्य का ही वाचक नहीं, अपितु 'नृ' शब्द का अर्थ 'नेता' भी होता है। अतः इस आक्षेप का परिहार करने के लिये मनुष्यताद्योतक अन्य विशेषणों पर भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। इन्हीं ऋभुओं के विशेषण-रूप से—

१. ऋभवःसुहस्ताः । (ऋ० १०।६६।१०॥)
२. स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः । (ऋ० ४।३३।८॥)
३. देवानामृभवः सुहस्ताः । (ऋ० ४।३५।३॥)
४. स्वपस्या सुहस्ताः । (ऋ० ४।३५।६॥)
५. शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः। (ऋ० ७।३५।१२॥)
६. दमूनसो अपसो ये सुहस्ताः । (ऋ० ५।४२।१२॥)

इन उपर्युक्त ६ स्थानों पर ऋभुओं के लिये 'सुहस्ताः' विशेषण आया है, अतः उत्तम हाथ-पाँववाले ऋभु मनुष्य ही हैं, कोई अलौकिक जीव नहीं। यदि कोई इस पर भी यह कहे कि उत्तम हाथ-पाँव तो देवताओं के भी होते हैं, परन्तु उन हाथों में मनुष्येतर विशेषतायें होती हैं। अतः केवल "सुहस्ताः" ऐसा विशेषण आ जाने से उनके मर्त्यत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इस पर एक और प्रमाण लीजिये—

ऋ० ४।३७।१ में उन्हें 'मनुषः' कहा गया है। अर्थात् वे मरणधर्मा मनुष्य हैं। इस पर भी यदि कोई विद्वान् 'मनु' का अर्थ मननशक्ति करे, तो उनके मर्त्यत्व में सबसे प्रबल तथा अकाट्य प्रमाण ऋ० १।११०।४ में आता है, वह इस प्रकार है—

'विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तोऽमृतत्वमानशुः ।'

यहाँ पर कितना स्पष्ट वर्णन किया है। 'मर्तासः सन्तः' अर्थात्—वे मर्त्य हैं, मरणधर्मा हैं। ऋभु देवताओं के मर्त्यत्व को सायण ने भी स्वीकार किया है। ऋग्वेद १ मं०, २० सू०, १ मं० की व्याख्या में वह लिखता है—

'ऋभवो हि मनुष्याः सन्तस्तपसा देवत्वं प्राप्ताः ।'

यहाँ पर भी सायण ने "मनुष्याः सन्तः" ऐसा निर्देश किया है। केवल यहीं नहीं परन्तु अन्य स्थानों पर भी सायण यही बात कहता है। ऋ० १ मं०, १६१ सू०, १ मं० की व्याख्या में वह लिखता है—

"ऋभवो नाम सुधन्वनस्त्रयः पुत्राः ऋभुर्विभ्वा वाज इति ते च मनुष्याः सन्तः सुकर्मणा देवत्वं प्राप्य कदाचित् कर्मकाले सोमपानाय प्रवृत्ताः ।"

अर्थात्—"सुधन्वा के तीन पुत्र ऋभु, विभ्वा और वाज हुए, जिनका सामान्य नाम ऋभु था। वे तीनों ऋभु मनुष्य होते हुए उत्तम कर्म के द्वारा देवत्व को प्राप्त करके कभी कर्म करने के समय सोमपान को प्रवृत्त हुए।"

इस प्रकार यहाँ भी सायणाचार्य ने "मनुष्याः सन्तः" अर्थात् मनुष्य होते हुए ऐसा ही निर्देश किया है।

ऋ० १।१६१।५ की व्याख्या में तो सायणाचार्य ने उन्हें स्पष्ट रूप से मनुष्य स्वीकार किया है। वहाँ आता है कि "देवयोग्यं त्वाष्ट्रचमसं मनुष्या ऋभवः स्वीकृत्य चतुर्धा व्यभजन्" अर्थात् देवताओं के योग्य त्वष्टा-निर्मित-चमस को मनुष्य ऋभुओं ने स्वीकार करके चार में विभक्त किया।

यहाँ पर सायण ने "मनुष्या ऋभवः" ऐसा लिखा है।

अतः सायण ने भी कई जगह अपनी व्याख्या में ऋभुओं को मनुष्य स्वीकार किया है।

परन्तु कई विद्वान् इसका यह भी समाधान कर सकते हैं कि 'मनुष्य होकर मरणोत्तर (मृत्यु के बाद) तपस्या के द्वारा

ऋभुओं ने देवत्व प्राप्त किया।' परन्तु यह समाधान ठीक नहीं। प्रथम तो यह समाधान व्याकरण के प्रतिकूल है। 'मनुष्य होकर मृत्यु के बाद ऋभुओं ने तपस्या के द्वारा देवत्व प्राप्त किया' यदि यही अर्थ करना था, तो वेद में 'मर्तासः सन्तः' ऐसा पाठ न होकर 'मर्तासो भूत्वा' ऐसा पाठ होता। और व्याकरण का दिग्गज पण्डित सायण भी अपनी व्याख्या में 'मनुष्याः सन्तः' ऐसा न करके 'मनुष्याः भूत्वा' ऐसा पाठ देता। परन्तु वेद में जब 'मर्तासः सन्तः' ऐसा निर्विवाद सिद्ध 'सन्तः' पाठ मौजूद है, तो सायण किस आधार पर 'सन्तः' के स्थान पर 'भूत्वा' पाठ कर देता? इसलिए यही उचित है कि मनुष्य होते हुए वे देव कहलाये, न कि मनुष्य होकर।*

कई लोग यह कहकर आत्मसंतुष्टी कर सकते हैं कि अमृतत्व का प्राप्त करना अलौकिक देवत्व का प्राप्त करना ही है। चूँकि देवता ही अमर होते हैं, मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन में आता है। इसलिए अमृतत्व से यह स्पष्ट ही है कि ऋभु तपस्या के द्वारा जन्म और मृत्यु के बन्धन से छूट गए, अर्थात् अलौकिक जीव बन गए। परन्तु यह भी युक्तिसङ्गत नहीं। प्रथम तो 'मर्तासः सन्तः' ऐसा पाठ मौजूद है। इसकी मौजूदगी में यह कहना, कि 'वे जन्म और मृत्यु के बंधन से छूट गए' देखते हुए भी न देखना है। और दूसरे भौतिक

---

* ऐतरेय ब्राह्मण ६।१२ में भी ऋभुओं का मर्त्यत्व अव्याहतरूप में विद्यमान है। वहाँ आता है—

'प्रजापतिर्वै पित ऋभून् मर्त्यान्त्सतोऽमर्त्यान्कृत्वा तृतीयसवन आभजत्।' यहाँ पर भी 'मर्त्यान्त्सतः' 'मर्त्य होते हुए' ऐसा स्पष्ट वर्णन है।

दृष्टि से अमर होना यह तो नितान्त असम्भव है। हां, आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत आदमी अमर हो जाते हैं।

राम और कृष्ण हमारे अन्दर विद्यमान नहीं, परन्तु उन की अमर आत्मा आज भी हिन्दुओं के हृदयों को प्रभावित कर रही है। राम और कृष्ण अमर हैं, पर आध्यात्मिक दृष्टि से अमर हैं, भौतिक दृष्टि से नहीं। ऋभुओं के अमृतत्व का भी यही तात्पर्य है। शतपथ-ब्राह्मण में 'नामृतत्वस्याशास्ति' (२।२।२।१४) भौतिक दृष्टि से अमृतत्व की कोई आशा ही नहीं। इस प्रकार कहकर स्पष्ट ही भौतिक अर्थों के अमृतत्व का प्रत्याख्यान किया है।

अतः इस वाक्य की उपस्थिति में कहीं भी किसी मनुष्य के सम्बन्ध में अमृतत्व का अर्थ भौतिक दृष्टि से अमरत्व करना वैदिक वाङ्मय के विरुद्ध है और पौराणिक लोगों की दृष्टि में तो वेदविरुद्ध है; क्योंकि वे तो शतपथ-ब्राह्मण को साक्षात् वेद मानते हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो अमरत्व की भावना ही दूसरी है। श० ब्राह्मण ६।५।१।१० में आता है 'एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति' अर्थात् सारी आयु का भोगना ही अमरत्व है। और सारी आयु 'शतायुर्वै मनुषः' में स्पष्ट कर दी गई है कि मनुष्य की आयु सौ साल तक है। इसी प्रकार ताण्ड्य-ब्राह्मण में भी यही भावना पाई जाती है। वहां आता है—

'एतद्वाव मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति।'

(ता० २२।१२।२)

अर्थात्—सारी आयु का भोगना ही अमृतत्व है। इसी प्रकार ऋभुओं के अमृतत्व का भी यही तात्पर्य है। इसलिए

ऋभु हम-आप-सरीखे मनुष्य हैं, यह बात सिद्ध करके हम आगे चलते हैं।

२. ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति

ऊपर हम अभी यह सिद्ध कर चुके हैं कि ऋभु मनुष्य हैं। अब यह निर्णय करने के लिए कि वे किस प्रकार के मनुष्य हैं, ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति देखनी पड़ेगी। भगवान् यास्क ने निरुक्त में ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है—

'उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वेति।'

अर्थात्—जो बहुत चमकते हैं। ज्ञान अथवा सत्य के कारण बहुत चमकते हैं, और जिनकी सत्ता ज्ञान और सत्य में ही है।

और 'ऋभवो मेधाविनामसु पठितम्।' इस प्रकार निघण्टु ३।१५ में इन्हें 'मेधावी' नामों में पढ़ा है। इस प्रकार निघण्टु और निरुक्त से यह पता चलता है कि वे अत्यन्त बुद्धिमान् हैं, अपने विद्या-बल के कारण संसार में चकमते हुए सितारे हैं।

३. ऋभुओं का त्रित्व

ऋभु मनुष्य ही हैं कोई अलौकिक देवता नहीं। और मनुष्यों में भी वे मेधावी अर्थात् अत्यन्त बुद्धिमान् मनुष्य हैं, यह सिद्ध कर चुकने के बाद अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि वे संख्या में कितने हैं?—

ऋभु-सूक्तों में कई मन्त्र ऐसे आते हैं, जिनसे ऋभुओं का त्रित्व पता चलता है अर्थात् ऋभु तीन हैं। वे मन्त्र निम्न हैं।

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत ॥
(ऋ० १।१६१।९)

आपो भूयिष्ठा इति एकः । यह प्रथम ऋभु है।
अग्निर्भूयिष्ठ इति अन्यः । ,, दूसरा ,, ,,
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्र एकः । ,, तीसरा ,, ,,

इसी प्रकार अगले मन्त्र में भी ऋभुओं का त्रित्व इस प्रकार दर्शाया गया है—मन्त्र इस प्रकार है।

श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतं ।
आ निम्रुचः शकृदेको अपाभरत् किंस्वित्पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः ॥
(ऋक् १।१६१।१०)

श्रोणामेक उदकं गामवाजति । यह प्रथम ऋभु है।
मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम् । ,, दूसरा ,, ,,
आ निम्रुचः शकृदेको अपाभरत् । ,, तीसरा ,, ,,

अगले मन्त्र में तो उनके त्रित्व का अत्यन्त स्पष्ट वर्णन है। मन्त्र इस प्रकार है—

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥
(ऋ० ४।३३।५)

यहाँ पर ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ शब्दों से उनके त्रित्व का स्पष्ट वर्णन किया गया है। अतः यह तो मानना ही पड़ेगा कि यहाँ तीन ऋभुओं का वर्णन है।

४. ऋभुओं का पारस्पारिक सम्बन्ध

ऋभुओं के त्रित्व की सिद्धि में जो एक मन्त्र दिया गया था—

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत्पनयद्वचो वः ॥

(ऋ० ४।३३।५)

इस मन्त्र में ज्येष्ठ, कनीयान् और कनिष्ठ शब्दों से ऋभुओं का आपस में भ्रातृत्व सम्बन्ध व्यञ्जित होता है। कदाचित् ऐतिहासिकों ने इसी के आधार पर उन्हें वास्तविक भाई समझ कर उनमें परस्पर भ्रातृत्व की कल्पना कर ली हो। और इस ही ऐतिहासिक पक्ष का आश्रय लेकर सायण ने भी अपने भाष्य में जगह जगह पर उनके भ्रातृत्व को प्रदर्शित किया है। जब उनमें भ्रातृत्व की कल्पना कर ली गयी तो उनका कोई पिता भी होना चाहिए इसी ही बात को सायण ने अपने भाष्य ऋक् १।११०।२ में इस प्रकार दर्शाया है।

'ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुरिति।' अर्थात् ऋभु, विभ्वा और वाज ये तीन आङ्गिरस सुधन्वा के पुत्र हैं।

अब विचारणीय विषय यह है कि क्या सुधन्वा कोई व्यक्ति-विशेष था, जिसके ये तीनों ऋभु, विभ्वा और वाज पुत्र थे और आपस में भाई भाई कहलाते थे अथवा ये सब काल्पनिक हैं?

पूर्व-पक्ष—सायण का पक्ष है कि अङ्गिरा का पुत्र सुधन्वा

व्यक्ति विशेष था, जिसके ये तीनों ऋभु पुत्र थे और आपस में भाई भाई कहलाते थे।

उत्तर पक्ष—हमारा पक्ष है, कि यह सब काल्पनिक है, सुधन्वा कोई व्यक्ति विशेष न था, नाही उसके ये तीनों पुत्र थे और नाही उनमें परस्पर भ्रातृत्व का सम्बन्ध था।

युक्ति—ऋभु, विभ्वा और वाज इन तीनों में बहुवचन का प्रयोग मिलता है। जैसे—

"तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन् महित्वनम् ॥" (ऋक् ४।३६।३)

वाजाः, ऋभवः और विभ्वः इन तीनों के अन्दर बहु-वचन का प्रयोग मिलता है। यदि ये तीनों एक एक व्यक्ति थे तो इनके नामों में बहुवचन का प्रयोग क्यों किया गया? इसका हमें कोई आधार नहीं मिलता।

इसलिये इससे प्रतीत होता है कि ये तीन व्यक्ति नहीं हैं, तीन classes अर्थात् तीन वर्ग हैं, जिनमें ऋभु भी बहुत सारे हैं, वाज और विभ्वा भी बहुत सारे हैं।

यहां कई लोग विप्रतिपत्ति उठा सकते हैं कि निरुक्तकार यास्काचार्य ने विभ्वा को तो नित्य एकवचनान्त माना है, जैसा कि निम्न लिखित प्रमाण से मालूम पड़ता है—

"ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन ॥"

(दैवत काण्ड ११ अ० २ पा० १३ ख० १० श०)

अर्थात्—ऋभु, विभ्वा और वाज—ये तीनों आंगिरस सुधन्वा के पुत्र हुए। इनमें पहिले और तीसरे में तो बहुवचन होता है, परन्तु बीच के में नहीं।

और केवल इतना ही नहीं, 'विभ्वन्' शब्द का 'विभ्वः' बहुवचनान्त प्रयोग व्याकरण के अनुसार बन भी नहीं सकता। अतः 'विभ्वन्' का 'विभ्वः' बहुवचनान्त मानना ठीक नहीं। इस का उत्तर यह है कि जब वेद में 'ऋभवः' और 'वाजाः' बहुवचनान्त में आये हैं तो 'विभ्वः' को हम क्यों न बहुवचनान्त मानें? व्याकरण की बात यह है कि वेद में इस प्रकार बहुत जगह व्यत्यय देखे जाते हैं। प्रकरण तो यही कहता है कि 'विभ्वः' को भी बहुवचनान्त माना जाये। अथवा निरुक्तकार और व्याकरण के सामने हम प्रकरण को दुर्बल भी मान लें तो भी ऋभु और वाज के बहुवचनान्त होने में तो किसी को लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। यह तो सर्ववादी सम्मत है। इसलिये ऋभु और वाज के बहुवचनान्त होने से वे पुत्र नहीं हो सकते, Classes अर्थात् वर्ग मानने पड़ेंगे। इसी प्रकार उनके साहचर्य से विभ्वा भी कोई (पुत्र) व्यक्ति नहीं है, यह भी एक वर्ग है, ऐसा हमें मानना चाहिये।

दूसरा इसका समाधान यह भी है कि 'विभ्वा' के लिये विभु शब्द का भी प्रयोग वेद में देखा जाता है। जैसा कि यजु० ३८।८ में आता है कि "सवित्रे त्वा ऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा।"

यहाँ पर ऋभु, विभु और वाज तीनों का वर्णन है। ऋभु और वाज के साहचर्य से विभु भी विभ्वा का सूचक है। विभ्वा को कई स्थलों पर विभु भी कह दिया गया है और कई स्थलों पर विभ्वा भी। इसलिये विभु शब्द का बहुवचनान्त "विभ्वः" भी उसी भाव का द्योतक है जिसका कि 'विभ्वा' है।

पूर्व-पक्ष—कई लोग यह कह सकते हैं कि, जिस प्रकार

'रघवः' गोत्रवाची शब्द है, इसी प्रकार 'ऋभवः' भी बहुत सारों के लिये गोत्रवाची प्रयोग हो सकता है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि गोत्र सदा पिता के नाम से ही चला करता है, भाई के नाम से कहीं नहीं चला करता। परन्तु यहाँ पर ऋभु पिता का नाम तो है नहीं, एक वर्ग का नाम है, और तीनों के लिये भी इसका प्रयोग मिलता है। इसलिये यह ऋभु शब्द गोत्रवाची भी नहीं हो सकता। चूँकि भाई के नाम से गोत्र कहीं नहीं चला करता, पिता के नाम से ही सदा गोत्र चला करता है। कोई यह भी कह सकता है; कि ऋभुओं को 'सौधन्वनासः' या 'सौधन्वनाः' इस शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। अतः यही गोत्रवाची नाम मान लिया जाये। मेरी सम्मति में ऐसा मानना भी ठीक नहीं। यदि उन्हें 'सौधन्वनासः' या 'सौधन्वनाः' इस गोत्रवाची नाम से सम्बोधित करना था तो 'ऋभवः' यह शब्द उन सबके लिये सामान्य रूप से प्रयोग में न आता। चूँकि ऋभु शब्द तो एक का ही नाम है। विभ्वा और वाज का नहीं है। परन्तु 'ऋभवः' शब्द उन सबके लिये प्रयुक्त होता है, अतः 'सौधन्वनाः' या सौधन्वनासः' गोत्र के रूप में नहीं है। अपितु वेद का इन्हें 'सौधन्वनाः' कहने का कुछ और ही भाव प्रतीत होता है। वह भाव हमारी सम्मति में यह है जो कि इनके स्वरूपों, विशेषणों आदि से पता चलता है।

सौधन्वनाः—

ऋभुओं को 'सौधन्वनाः' ऋभु-सूक्तों में अनेकों स्थलों पर कहा गया है। 'सौधन्वनाः' का धात्वर्थ यह है कि "सुष्ठु धन्व अन्तरिक्षं येषां ते" अर्थात् उत्तम अन्तरिक्षवाले। अथवा

इसका धात्वर्थ यह भी हो सकता है कि "सुष्ठु धन्व धनु येषां ते" अर्थात् उत्तम धनुर्धारी। इस प्रकार व्युत्पत्ति से 'सौधन्वनाः' का अर्थ यह हुआ कि उत्तम अन्तरिक्षवाले अथवा उत्तम धनुर्धारी।

दूसरे सुधन्वा इस कारण से भी व्यक्ति-विशेष नहीं कहला सकता, क्योंकि मरुतों व रुद्र को भी सुधन्वा नाम से कहा गया है।

ऋ० ५।४२।११ में सुधन्वा रुद्र को कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

तमुष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य। यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥

यहाँ पर रुद्र को सुधन्वा कहा गया है। एक दूसरे मन्त्र में मरुतों को भी सुधन्वा शब्द से याद किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

वाशीमन्त ऋष्टिमन्तो मनीषिणः सुधन्वान इषुमन्तो निषङ्गिणः। स्वश्वाः स्थ सुरथाः पृश्निमातरः स्वायुधा मरुतो याथना शुभम्॥ (ऋ० ५।५७।२)

इस प्रकार यहाँ पर मरुतों को 'सुधन्वानः' ऐसा कहा गया है। और वेद की यह शैली भी है कि काल्पनिक या आलंकारिक पुत्रत्व उसमें कई जगहों पर पाया जाता है। जैसे— 'रुद्रस्य पुत्राः' (ऋ० ६।६६।३) 'सहसः सूनुम्' (ऋ० १।१२७।१) 'ऋतस्य पुत्राः' (१।१६४।११) 'दिवस्पुत्राः' (ऋ० ४।२।१५) 'पृश्नेः पुत्राः' (ऋ० ५।५८।५)

इसी प्रकार ऋभुओं के लिए आये हुए 'सौधन्वनासः',

'सौधन्वनाः' 'मनोर्नपातः', 'शवसो नपातः' इत्यादि शब्द भी इसी भावना से ओत-प्रोत समझने चाहिएँ।

इसी प्रसंग में एक और बात विचारणीय है, वह यह कि क्या सुधन्वा अंगिरा का पुत्र था जैसा कि ऐतिहासिकों ने तथा सायण ने कल्पना की है। इस पर कहना यह है—

(१) वेद में बृहस्पति के लिए तो आंगिरस शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु सुधन्वा के लिए कहीं नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि सुधन्वा के लिए आंगिरस की कल्पना पीछे के वेदभाष्यकारों ने की। अतः इस बात से हमारे इस सिद्धान्त की ज़्यादह पुष्टि होती है कि वेद में प्रतीयमान वंशपरंपरा काल्पनिक तथा अलंकार-परिपूर्ण है।

(२) बृहस्पति के लिए जो आंगिरस शब्द का प्रयोग वेद में मिलता है, वह भी काल्पनिक तथा अलंकार-गर्भित है।

ऐतरेय-ब्राह्मण ३।३४ में आता है—

येऽङ्गारा आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन् यदङ्गाराः पुनरवशांता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्।

जो प्रदीप्त अंगारे थे, उनका नाम आंगिरस पड़ा। और जब वे अंगारे शान्त होकर फिर प्रदीप्त किये गये, उनका नाम बृहस्पति पड़ा। इससे आपको स्पष्ट पता चल गया होगा कि बृहस्पति को ही आंगिरस कहते हैं।

(३) इसी प्रकार अंगिरा शब्द तो बहुतों के लिए आया है जैसा कि शतपथ ६।१।२।२८ में आता है कि 'प्राणो वा अङ्गिराः।' अर्थात् प्राण अंगिरा है।

(४) प्राण को ही अंगिरा नहीं कहते, अपि तु ऋ० १।३१।१

में आता है कि 'त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा... ।' हे अग्नि! तू पहला अंगिरा है। फिर दूसरे मन्त्र में कह दिया कि 'त्वमग्ने प्रथमो अंगिरस्तमः... । इन मन्त्रों से स्पष्ट पता चलता है कि अंगिरा भी वही है और 'अङ्गिरस्तम' भी वही है। यदि अंगिरा कोई व्यक्ति-विशेष है, तो उसके लिए अंगिरस्तम शब्द का कैसे प्रयोग किया जा सकता है? चूंकि तर और तम प्रत्यय व्यक्तिवाची शब्दों के साथ कभी नहीं लगाये जाते। इसलिए अंगिरा भी कोई व्यक्ति-विशेष नहीं है और यह गोत्रवाची शब्द भी नहीं है।

कई लोगों को यह भी शंका हो सकती है कि यदि ऋभुओं के अन्दर पुत्रत्व की भावना वेद-विरुद्ध है, तो यास्क ने अपने निरुक्त में ऋभुओं को पुत्रत्व-रूप में क्यों दर्शाया? जैसा कि निरुक्त में आता है—

ऋभुर्विभ्वा वाज इति सुधन्वन आङ्गिरसस्य त्रयः पुत्राः बभूवुः। तेषां प्रथमोत्तमाभ्यां बहुवन्निगमा भवन्ति न मध्यमेन।

(११ अ० २ प० १३ खं० १०२)

इस प्रकार चूंकि उसने ऋभुओं को पुत्रत्व रूप में दर्शाया है, और इस कथानक का खण्डन नहीं किया, और ना ही उसको ऐतिहासिकों का पक्ष बतलाया, अतः इससे यह प्रतीत होता है कि निरुक्तकार यास्काचार्य को भी ऋभुओं का पुत्रत्व, सुधन्वा का पितृत्व तथा अङ्गिरा का पितामहत्व ही अभीष्ट था। इस लिए अङ्गिरा, सुधन्वा तथा ऋभुओं को तो हमें व्यक्ति-विशेष ही मानना चाहिए। ऐसी जिनके अन्दर शंकायें उत्पन्न होती हों, उन्हें चाहिए कि वे अपनी इन शङ्काओं को दूर कर दें। चूंकि यास्का-

चार्य का यह तरीका है कि जिनकी उन्होंने व्युत्पत्ति दी है उन को वे व्यक्ति-विशेष मानते ही नहीं और जिनको वे व्यक्ति-विशेष मानते हैं, उनकी उन्होंने कहीं पर भी व्युत्पत्ति नहीं दी। ऋभु, विभ्वा और वाज की यास्काचार्य ने व्युत्पत्ति दी है, इसलिए ये व्यक्तिवाची नाम नहीं हैं। इतना स्पष्ट है कि ऋभु, विभ्वा और वाज उनके मत में व्यक्तिवाची शब्द नहीं हैं। और जो मत उन्होंने पुत्रत्व आदि दृष्टि से अपने निरुक्त में दिखा रक्खा है; वह उनका अपना मत नहीं, वह ऐतिहासिकों का मत है। अतः अङ्गिरा, सुधन्वा तथा ऋभु कोई व्यक्ति-विशेष नहीं हैं। उनके पितृत्व तथा पुत्रत्वादि सम्बन्ध काल्पनिक तथा आलंकारिक हैं। और पितृत्व तथा पुत्रत्वादि सम्बन्ध का काल्पनिक वर्णन करना वेद की शैली है।

५. ऋभुओं की इतर देवताओं से विशेषतायें

अब मैं विशेषणों के आधार पर यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि ऋभु अन्य देवताओं से किस बात में भिन्न हैं। इस विषय में सबसे पहिला प्रकाश तो ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति से ही पड़ता है। वह व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

उरु भान्तीति वा ऋतेन भान्तीति वा ऋतेन भवन्तीति वा।

अर्थात् वे अपने विद्या-बल के कारण खूब चमकनेवाले हैं, उनके अन्दर संग्रहीत ज्ञान विशेष है, अर्थात् विशेष ज्ञान-वाले हैं।

अब हम कुछ विशेषणों से यह साबित करेंगे कि ऋभु लोग अन्य देवताओं से भिन्न क्या क्या विशेषतायें रखते हैं।

तक्षण

वेद में सौ से ऊपर प्रयोग हमें तक्ष धातु के मिलते हैं। इन प्रयोगों में लगभग २७ प्रयोग ऋभुओं के लिए आये हैं और ६-१० प्रयोग त्वष्टा के लिए आये हैं। और बहुत से प्रयोग ऐसे हैं जो कि उपमान के रूप में प्रयुक्त हुए हुए हैं, अवशिष्ट दो दो, तीन तीन प्रयोग ऐसे हैं, जो अन्य देवताओं के लिए आये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ऋभुओं का तक्ष् धातु से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यहीं तक नहीं कि तक्ष् धातु का ऋभुओं के साथ अनेक बार प्रयोग हुआ है परन्तु इससे भी बढ़कर बात यह है कि जहाँ कहीं तक्षण के लिये उपमा देने की आवश्यकता हुई, वहाँ उपमान के रूप में ऋभुओं का प्रयोग किया गया है। उपमान के रूप में प्रयोग उसी का किया जाता है, जो उस विषय में सबसे मुख्य माना जाये। जैसे मुख के सौन्दर्य के लिये चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। इससे पता लगता है कि सौन्दर्य में चन्द्रमा मुख्य है। ठीक उसी प्रकार तक्षण में ऋभु मुख्य हैं, तभी तो उनसे उपमा दी गई, जैसे—

शर्भो वा यो मरुतां ततक्ष ऋभुर्न त्वेषो रभसानो अद्यौत्।

(ऋ० ६।३।८)

इस मन्त्र में 'ऋभुर्न त्वेषः' इस मन्त्रभाग से स्पष्ट पता चल जाता है कि ऋभु उपमान में हैं। एक और उदाहरण लीजिए—

'प्रास्तौदृष्वौजा ऋष्वेभिस्ततक्ष शूरः शवसा।
ऋभुर्न क्रतुभिर्मातरिश्वा॥' (ऋ० १०।१०५।६)

यहाँ पर 'ऋभुर्न क्रतुभिः' इस प्रकार ऋभुओं को उपमान में दिखाया गया है। इसलिये जहाँ तक्षण को दर्शाया गया है, वहाँ उपमान में ऋभुओं को ही लिया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि ऋभुओं का तक्षण से विशेष सम्बन्ध है, जो कि और किसी का नहीं है।

तक्ष धातु का विस्तार

लोक में तक्ष् धातु बहुत संकुचित अर्थों में ली जाती है। लोक में तक्ष् धातु से तरखान (बढ़ई) का काम समझा जाता है। परन्तु वेद में यह धातु इतने विस्तृत तथा सुन्दर अर्थों में प्रयुक्त की जाती है कि जो साधारण संस्कृत पढ़नेवाले को भी आश्चर्य में डाल देती है। अब हम संक्षेप में तक्ष् धातु का विस्तार दिखाते हैं।

भौतिक पदार्थों का तक्षण

तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसः ....।

(ऋ० १।१११।१)

ऋभुओं ने एक उत्तम रचनायुक्त रथ बनाया। इसी प्रकार प्रकार अन्य भौतिक पदार्थों के तक्षण के सम्बन्ध में भी आता है।

आध्यात्मिक गुणों का तक्षण

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदमेकामभ्यङ्हुरोगात्।

(ऋ० ५।१।६)

यहाँ मनुष्य की सात मर्यादाओं का तक्षण बताया गया है।

बुद्धि का तक्षण

सख ऋभुभिः पुरुहूत प्रियेभिरिमां धियं सातये तक्षता नः ॥

(ऋ० १०।५४।१.७)

यहाँ बुद्धि का तक्षण बताया गया है। इसी तरह से अन्य गुणों का तक्षण भी वेद में आता है।

मनुष्य का तक्षण

यूयं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टं जनयथा यजत्राः ।

(ऋ० ५।५८।४)

इस मन्त्र में राजा के तक्षण किये जाने का वर्णन किया गया है।

सृष्टि का तक्षण

यद् रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम् ।

(अथर्व वेद १।३२।३)

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च। (ऋ० ११।५।८)

वैदिक वाङ्मय का तक्षण

यस्मादृचो अपातक्षन् । (१०।७।१०)

जिससे ऋचाओं का तक्षण हुआ। परन्तु इन सब प्रकार के तक्षणों में एक बात समान है, वह यह कि बनाना और घढ़ना। इसके अतिरिक्त तक्ष् धातु का द्विकर्मक रूप में भी प्रयोग मिलता है। उदाहरण के तौर पर—

जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षत ।
(ऋ० ४।३६।३)

यहां पर पितरौ और युवानौ ये दो कर्म हैं इस प्रकार हमें पता चल गया कि वेद में तक्ष धातु का बहुत विस्तृत अर्थ है। ऋभुओं ने क्या क्या तक्षण किया यह तो पीछे ही पता चलेगा जब कि उनके अवदानों पर विचार किया जायेगा। तक्ष धातु को लाने का इतना ही प्रयोजन था कि तक्ष धातु का विशेष सम्बन्ध ऋभुओं से है जो कि त्वष्टा को छोड़कर और देवताओं से न के बराबर है। और इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि तक्षण में ऋभुओं को ही उपमानभूत समझा गया है और देवताओं को नहीं, जैसा कि ऊपर दर्शाया जा चुका है। और दूसरे तक्ष धातु का संकुचित अर्थ नहीं है, अपितु बहुत विस्तृत अर्थ है, यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिये। यदि ऋभुओं की अन्य देवताओं से सब विशेषताओं को विस्तार से आपके सामने रक्खूँ, तो इस निबन्ध का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा। इसलिये यही उचित प्रतीत होता है कि अन्य विशेषताओं को संकेत रूप में मैं आपके सामने रखता जाऊँ।

सुकृतः सुहस्ताः

यह समन्वय ऋभुओं के लिये ही आया है। परन्तु 'सुहस्ताः' विशेषण ऋ० ६।६७।३७ तथा ऋ० १०।३०।२ इन दो स्थानों पर 'अध्वर्यवः' के लिये भी आया है। परन्तु 'सुकृतः सुहस्ताः' या 'स्वपसः सुहस्ताः' ऐसा सहचार तो ऋभुओं के लिये ही आया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऋभु लोग उत्तम तथा सधे हुए हाथों के द्वारा उत्तम उत्तम कर्म करते हैं।

तक्ष् धातु तथा 'सुकृतः सुहस्ताः' इन दोनों का ऋभुओं

के साथ विशेष सम्बन्ध देखकर किन्हीं को शायद यह भ्रम हो सकता है कि ऋभु साधारण बढ़ई को कहते हों। परन्तु उनके भ्रम दूर करने के लिये यहाँ तो कुछ विशेष कहा नहीं जा सकता। जब उनके कार्यों पर विस्तार से विचार किया जायेगा तभी आपको यह पता चल जायेगा कि क्या ये मामूली तरखान हैं अथवा कोई और हैं। हाँ, यहाँ इतना दिग्दर्शन कराया जा सकता है कि ये केवल हाथ से ही काम करनेवाले नहीं हैं, परन्तु ज़्यादहतर दिमाग से काम करनेवाले हैं।

प्रथम तो ऋभु शब्द की व्युत्पत्ति ही यह बताती है कि वे दिमाग से काम करनेवाले हैं। उनकी शोभा है ही ज्ञान में। निम्न प्रमाण भी इस ही बात को पुष्ट करते हैं—

१ अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः। (ऋ० ४।३३।६)

२ रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया। (ऋ० ४।३६।२)

३ ततक्षु मनसा हरी। (ऋ० १।२०।२)

४ यया धिया गामरिणीत चर्मणः। येन हरी मनसा निरतक्षत॥ (ऋ० ३।६०।२)

५ मनोर्नपातः। (ऋ० ३।६०।३)

इत्यादि मन्त्रांशों से स्पष्ट पता चल गया होगा कि ऋभुओं का काम केवल हाथों से ही करने का नहीं है, अपि तु मनन करने का तथा सोचने का ज़्यादह है। साथ ही 'सुकृतः सुहस्ताः' से यह पता चलता है कि वे निरे ज्ञान-व्यवसायी भी नहीं हैं, उनका क्रियात्मक जीवन से भी सीधा सम्बन्ध है।

सत्यमन्त्राः

दुनिया में ज्ञान-प्राप्ति के दो साधन हैं—एक कविता और दूसरा विज्ञान। कविता कल्पना-प्रधान होती है और विज्ञान परीक्षण-प्रधान होता है। इन दोनों साधनों से ही दुनिया में ज्ञान की प्राप्ति होती है। कविता करनेवाले कवि लोग सौन्दर्य, अच्छाई तथा बुराई आदि की तरफ़ मनुष्यों को प्रेरणा देते हैं, अर्थात् मानसिक जगत् पर प्रभाव डालते हैं। उस मानसिक प्रभाव को पैदा करने में चाहे उन्हें दुनिया को अथवा परमात्मा के नियमों को तिलांजलि देनी पड़ जाये, वह स्वीकार है। परन्तु मानसिक प्रभाव में लेशमात्र भी कमी नहीं आने देना चाहते। जैसा मम्मट ने भी कहा है—

नियतिनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥

अर्थात्—कवियों पर नियति (प्रकृति) का कोई नियम नहीं चलता। परन्तु वैज्ञानिक इसके विपरीत होता है, वह परीक्षण-प्रधान होता है। जब तक कोई बात सिद्ध न हो जाये और सत्य की कसौटी पर न कस जाये, तब तक वैज्ञानिक किसी भी बात को मानने के लिए तैयार नहीं। चाहे उस वैज्ञानिक को एक नई चीज़ क्यों न छोड़नी पड़ जाये। वह हरएक बात को सीधी-सादी सरल भाषा में रखता है। कविता का अंश अर्थात् कल्पना बहुत कम होती है। सत्य का अंश बहुत होता है। अतः ऋभुओं को कहा गया है कि तुम 'सत्यमन्त्राः' हो। इससे यह प्रतीत होता है कि 'सत्यमन्त्राः' शब्द उनके कल्पना-

प्रधान होने के विरोधी रूप में परीक्षण-प्रधान होने का निर्देश करने के लिए रक्खा गया है।

विद्मनापसः

इसका अर्थ है कि विज्ञान द्वारा अपने कर्मों को करने वाले। यह विशेषण एक जगह और भी आया है, वहाँ पर यह मरुतों के लिये आया है। उनके लिए भी यह विशेषण सुचारु रूप से संगत हो जाता है। मरुत् लोग भी विज्ञानों के द्वारा ही अपने युद्ध सम्बन्धी कर्मों को करने वाले होते हैं। आज कल के युद्ध तो हैं ही विज्ञान के ऊपर आश्रित। ऋभुओं का काम विज्ञान द्वारा नये नये आविष्कार करना और मरुतों का काम है उन आविष्कृत अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध करना।

सुषुप्वांसः

इसका अर्थ है सोने वाले। यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिए ही आया है। इन्हें खूब सोने देना चाहिए, चूँकि थका हुआ दिमाग निद्रा के बाद फिर तरोताज़ा हो जाता है। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि ऋभु लोग वे हैं जो कि ज्ञाननिद्रा में सोते रहते हैं।

ससन्तः

सुषुप्वांसः और ससन्तः ये दो विशेषण ध्यान से देखने योग्य हैं। और वेदों में इन्हीं ऋभुओं के लिये ये दोनों विशेषण आये हैं। निम्न मन्त्र में ससन्तः का प्रयोग किया गया है— द्वादश द्यून् यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन् ऋभवः ससन्तः'—१२ महीने जो कि ज्ञान के आतिथ्य में लगे रहते हैं, अर्थात् गम्भीर तथा

गहन विचार में इतने तल्लीन रहते हैं कि मानो वे सो रहे हों। यह गाढ़निद्रा एक प्रकार से प्रयोगशाला की निद्रा है। अथवा यं भी कह सकते हैं कि सोते सोते भी इन्हें अपने अन्वेषणीय बातों का ध्यान रहता है।

ऋजूयवः

ऋ० १।२०।४ में यह विशेषण भी केवल इनके लिये ही आता है। इसका अर्थ है 'ऋजुत्वमिच्छन्तीति ऋजूयवः' अर्थात् सीधे तथा सरल मार्ग का अवलम्बन करनेवाले। जैसा कि मैं 'सत्यमन्त्राः' विशेषण की व्याख्या में दर्शा चुका हूँ कि कवि और चित्रकार हमेशा कल्पना-प्रधान कृति किया करते हैं और इसके साथ साथ वे लक्षणा और व्यञ्जना में ही अपनी बातों को रखते हैं। सदा टेढ़ा मार्ग अख्तयार करते हैं—जैसा अलङ्कार शास्त्र में कहा भी है। 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितम्' अर्थात् टेढ़ा कथन काव्य का जीवन है। सीधी-सादी सरल भाषा का अनुकरण करना उन्हें पसन्द नहीं। परन्तु वैज्ञानिक सदा अपनी बातों को सादी सरल तथा जो द्व्यर्थक और संदेहास्पद न हो ऐसी भाषा में रखते हैं। वे सीधी रेखा में चलते हैं, ऋभुओं को भी यह कहा गया है कि तुम 'ऋजूयवः' हो।

अपाकाः

अगला विशेषण इनके लिये 'अपाकाः' आया है। यह विशेषण भी केवल इन्हीं के लिये आया है। इसका अर्थ यह है, कि 'अपाकाः परिपाकान्तरानपेक्षाः' अर्थात् ऐसी बात जिसमें कि और परिपाक की अपेक्षा तथा अवकाश न हो। सायण ने लिखा है कि—'पक्तव्यप्रज्ञः मूर्खः तद् विलक्षणः' इसका अर्थ यह

हुआ कि जो परिपक्क बुद्धि वाले हैं, अर्थात् परिपक्क बातों को ही स्वीकार करते हैं, और अन्तिम सत्य भी तभी समझते हैं, जब कि वह परिपक्क हो चुका है।

उपमं नाधमानाः

यह दोनों शब्दों का सहचार केवल ऋभुओं के लिये ही आया है। जो यह चाहते हैं कि दुनिया में उनकी उपमा दी जाये, अर्थात् जोकि आनेवाली सन्तति के लिये दृष्टान्तभूत होना चाहते हैं।

प्रतिजूतिवर्पसः

ऋ० ३।६०।१ में यह विशेषण भी केवल इन्हीं के लिए आया है। सायण ने इसका अर्थ दिया है "प्रतिपक्षाभिभवनशीलतेजोयुक्ताः" जिनके अन्दर प्रतिपक्ष को अभिभव करने की सामर्थ्य हो। इसका तात्पर्य यह है कि राजा को चाहिए कि वह ऐसे विद्वानों को रक्खे जो कि राष्ट्र में सर्वश्रेष्ठ हों, अथवा ऋभु लोग ऐसे आविष्कार करनेवाले हों, जिनकी मार के सामने शत्रु ठहर ही न सकता हो।

मनोर्नपातः

ऋ० ३।६०।३ में यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिए ही आया है। मनोर्नपात का अर्थ है कि वे मनु अर्थात् मनन के पुत्र हैं, हमेशा मनन करनेवाले हैं।

मधुप्सरसः

इस विशेषण की भी अपनी विशेषता है। यह विशेषण भी केवल ऋभुओं के लिए ही आया है। इसका अर्थ है मधुर

वेशवाले। इससे प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक को ऐसा वेश पहनना चाहिए, जिससे कि वह मधुर प्रतीत होवे, सुन्दर हो, आँखों को ख़राब न लगे और उस वेश को देखनेवालों के ऊपर मधुर प्रभाव पड़े।

६. ऋभुओं के अवदान

किन किन कार्यों का ऋभुओं के साथ सम्बन्ध है यहाँ पर मैं उनका केवल नामनिर्देश-मात्र करता हूँ; परन्तु साथ ही यदि कोई सायणभाष्यान्तर्गत आख्यान जुड़ा हुआ होगा, तो उसे भी मैं आपके सम्मुख रखता जाऊँगा।

वे कार्य निम्न हैं—

१. य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। (ऋ० १।२०।२)

इन्द्र के लिए हरी का बनाना।

२. तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्। (ऋ० १।२०।३)

अश्वियों के लिए रथ बनाना।

३. युवाना पितरा पुनः। (ऋ० १।२०।४)

पितरों को फिर युवा करना।

४. उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः। (ऋ० १।२०।६)

त्वष्टाकृत चमस के ४ विभाग करना।

५. निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत संवत्सेनासृजता मातरं पुनः। (ऋ० १।११०।८)

पृथिवी का ऊपरला बंजर हिस्सा हटाना तथा वत्स के साथ उसे जोड़ना।

६. ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरा साप्तानि सुन्वते ।
(ऋ० १।२०।७)

२१ रत्नों का धारण करना ।

७. आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः । (ऋ० १।१११।२)

यज्ञ के लिए ऋभुमद् वय का तक्षण करना ।

८. क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम् । (ऋ० १।१११।२)

क्रतु और दक्ष के लिए उत्तम प्रजाओं को देनेवाले अन्न का तक्षण करना ।

९. अश्वादश्वमतक्षत । (ऋ० १।१६१।७)

अश्व से अश्व का घड़ना ।

१०. सुक्षेत्राकृण्वन् अनयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः । (ऋ० ४।३३।७)

उत्तम उत्तम खेत बनाना, नदियों को लाना और ओषधि पैदा करना ।

११. ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः । (४।३४।६)

सन्तानों को उत्तम बनाना ।

इस प्रकार से मुख्य अवदान मूल मन्त्रों के आधार पर दिये हैं। इन अवदानों के विषय में इनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य कोई आख्यान जो सायण ने अपने भाष्य में दिये हैं, उनका हम यहाँ संग्रह देते हैं ।

७. आख्यान आदि

ऋभुओं के सम्बन्ध में सायण ने अपने भाष्य में कुछ

आख्यान तथा घटनायें दी हैं जोकि विचारणीय हैं। वे आख्यान तथा घटनायें निम्न हैं।

(१) ऋभु लोगों का संकल्प सच्चा होता है, अतः उन्होंने अपने संकल्प मात्र से इन्द्र के अश्व बनाये। (ऋ० १।२०।२)

(२) ऋभुओं ने अपने वृद्ध माता-पिताओं को पुरश्चरणादि अनुष्ठान तथा सिद्ध मन्त्रों के प्रभाव से जवान बना दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस जिस उद्देश्य से मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, वही वही फल वैसा का वैसा मिल जाता है। इसी लिये ऋभु अपने वृद्ध माँ-बाप को युवा बनाने में समर्थ हुए। (ऋ० १।२०।४)

(३) ऋभु, आङ्गिरस के पुत्र सुधन्वा के पुत्र हैं। कुत्स भी आङ्गिरस है। अतः उसने भी यह कहा है कि ये मेरे सम्बन्धी हैं। (ऋ० १।११०।२)

(४) सृष्टि के आदि में त्वष्टा से बनाये हुए चमस को ऋभुओं ने होतृ चमसादि ४ विभागों में विभक्त कर दिया। (ऋ० १।११०।३)

(५) ऋभुओं ने सब जगत् के पालक इस सूर्य के तरणकौशल को सूर्य की रश्मि का रूप धारण करके प्राप्त किया। (ऋ० १।११०।६)

(६) पहिले कभी किसी ऋषि की धेनु मर गई थी। ऋषि को उसके बछड़े पर बड़ा तरस आया। ऋषि ने ऋभुओं की स्तुति की। ऋभुओं ने उसी गौ के समान दूसरी गौ बना कर मृत गौ के चमड़े से उसको ढक कर बछड़े के साथ उसको लगा दिया। (ऋ० १।११०।८)

(७) ऋभु, विभ्वा और वाज ये तीन सुधन्वा के पुत्र थे। पहिले

ये मनुष्य थे, पीछे तपस्या तथा उत्तम कर्मों के द्वारा इन्होंने देवयोनि प्राप्त की। एक समय ये सोमपान करने के लिये तय्यार ही हुए थे कि देवप्रेषित दूत अग्नि उनका समान रूप देखकर अपने आप भी वही रूप धारण कर सोमपान के लिये चौथा होकर उनके बीच में आ बैठा।

ऋभु लोग अपने जैसे रूपवाले उस नवागत को देखकर अपने और उसमें विवेक करने में असमर्थ हो गये। उस समय वे इस प्रकार सन्देह करते हैं कि "क्या यह आयु में हमसे बड़ा है, अथवा हमसे छोटा है? क्या देवों ने इसे दूत बनाकर भेजा है? इत्यादि बातों का निर्धारण कैसे किया जाये?" इस प्रकार उनके मन में शंका पैदा हुई। तदनन्तर यथाकथञ्चित् उसको अपने से भिन्न निश्चय करके प्रत्यक्ष रूप में उससे कहने लगे।

"हे भाई अग्नि! तू सोमपान करने के लिये अधिक आ गया है। इसलिये हम बिना पान किये उठ जायें इस प्रकार हम चमस का अपमान नहीं कर सकते। क्योंकि चमस त्वष्टा-निर्मित होने के कारण महाकुलोत्पन्न है।"

"अग्नि उन्हें उत्तर देता है।"

"हे सुधन्वा के पुत्रो! त्वष्टानिर्मित चमस के ४ विभाग कर दो। ये ४ विभाग करने के लिये केवल मैं ही नहीं कह रहा, परन्तु इन्द्रादि देवों ने ही अश्वरथादि कर्म करने के लिये आज्ञा दी है। इस आज्ञा को मैं तुम्हें सुनाने आया हूँ। और उन्होंने यह भी कहा है कि यदि तुम ऐसा करोगे तो तभी तुम्हें भाग मिलेगा, अन्यथा नहीं।"

ऋभु कहते हैं—कि "हे अञ्जनादि गुणविशिष्ट अग्निदूत!

इन्द्रादि देवों ने तेरे द्वारा जो जो कार्य करने के लिये हमें कहा है, वे वे कार्य हम करेंगे।"

अपना कार्य समाप्त करने के पश्चात् जब उन्होंने यह प्रश्न किया कि वह दूत कहाँ चला गया जोकि हमारे पास आया था। ऐसा कहने पर त्वष्टा आया और उसने जब चमस को ४ विभागों में विभक्त देखा तो देखते ही वह अपने को स्त्री समझने लगा। (१।१६१।७)

परन्तु जो ऋभु मनुष्य, देवों से पातव्य चमस की निन्दा करेंगे उनको मारा जायेगा। ऐसा जब त्वष्टा ने कहा तब से लेकर मनुष्य-ऋभु जब जब सोमपान के लिये आते हैं, तब तब अपने होत्रध्वर्यूद्गातादि दूसरे नाम कर लेते हैं। उपहव के समय अपने पहिले नाम को छिपा कर—अध्वर्य उपह्वयस्व, होतरुपह्वयस्व इस प्रकार त्वष्टा के वध करने के भय से अपने दूसरे नाम धर लेते हैं।

प्रश्न किया जाता है कि इन्होंने ये दूसरे नाम क्यों रक्खे? उत्तर यह है, चूँकि इन मनुष्यों को इनकी उत्पादयित्री माता इन्हीं नामों से खुश करती है।

(८) हे सुधन्वा के पुत्रो! मुञ्जवान् नाम का पर्वत सोम की उत्पत्ति का स्थान है। वहाँ से यह सोमरस लाया गया है और यह मुञ्जतृण से रहित है।

८. ऋभुओं का स्वरूप

ऋभुओं के सम्बन्ध में हम ऊपर यह दर्शा चुके हैं कि ऋभु मेधावी पुरुषों को कहते हैं, जैसा कि निघण्टु तथा निरुक्त के प्रमाणों से भी दर्शाया जा चुका है। परन्तु विचारणीय

तो यह है कि वे किस प्रकार के मेधावी हैं। "ऋभुओं की इतर देवताओं से विशेषताएँ" इस शीर्षक में हमने ऋभुओं के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाला था, और उनके कार्यों तथा विशेषणों से उनके स्वरूप को स्पष्ट करने की कोशिश की थी। अब उनके स्वरूप का थोड़ा और विवेचन करने के लिए संक्षेप में उपर्युक्त सब बातों की ओर निर्देश कर देते हैं, जिससे उनका स्वरूप कुछ और स्पष्ट हो जाय।

ऋभुओं की कुछ विशेषतायें हमने ऊपर बताई थीं जो कि संक्षेप में निम्न हैं—

१. तक्षण=यज्ञदीक्षा, (Training), जाँच, पड़ताल, संशोधन, सुधार आदि।
२. सुकृतः सुहस्ताः=सिद्ध हस्तवाले तथा कार्यकुशल।
३. मनोर्नपातः=मनन के पुत्र अर्थात् ज्ञान-व्यवसायी।
४. सत्यमन्त्राः=प्रत्येक पदार्थ को सत्य की कसौटी पर कसकर देखनेवाले।
५. विद्मनापसः=विज्ञान के द्वारा कर्म करनेवाले।
६. सुषुप्वांसः, ससन्तः=गम्भीर तथा गहन विचारों में तल्लीन।
७. ऋजूयवः=कवितामयी भाषा को छोड़कर सरल तथा सीधी भाषा का अवलम्बन करनेवाले।
८. अपाकाः=परिपक्व ज्ञानवाले।
९. उपमं नाधमानाः=दुनिया के सामने अपने को दृष्टान्त रूप में रखकर अमर होना चाहनेवाले।

इस प्रकार ऋभुओं के उपर्युक्त विशेषणों से इतना तो स्पष्ट झलक रहा है कि ऋभु सामान्य विद्वान् नहीं हो सकते।

मस्तिष्क से आविष्कार करना और फिर हाथों के द्वारा उस आविष्कार को कार्यरूप में परिणत करना केवलमात्र ज्ञान व्यवसायी का क्षेत्र नहीं। यह क्षेत्र विज्ञान का है। विज्ञान के क्षेत्र में ये किस कोटि में आते हैं, यह उनके कार्यों तथा सूक्ष्म विवेचनों से स्पष्ट हो जायेगा।

इस प्रकार ऊपर हमने ऋभुओं के विशेषण आपके समक्ष रक्खे। अब उनके कार्य की तालिका भी दर्शाते हैं जोकि संक्षेप में निम्न प्रकार से है—

हरी=विज्ञान और कला का निर्माण तथा राष्ट्र में उनका प्रसार करना।

रथ=स्थल, जल तथा नभ में विचरनेवाले सूक्ष्म रचनायुक्त यानों का निर्माण करना।

विश्वरूपा धेनुः=सब प्रकार के ज्ञानावलम्बी साहित्य का निर्माण करना।

चमस=मनुष्य-जाति का गुण-कर्मानुसार चार में विभाग करना। अथवा विज्ञानोपयोगी चार भूतों के रहस्यावबोधन करनेवाले चार प्रकार के विद्वान् तैयार करना।

गौ=बञ्जर भूमि को उर्वरा बनाना।

पितर=द्यावा पृथिवी को युवा करना।

इस प्रकार संक्षिप्तरूप में उपरिनिर्दिष्ट उनके कार्यों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सामान्य मेधावी पुरुष नहीं हैं। ये वैज्ञानिकों की कोटि में आते हैं। इस बात को सिद्ध करने के

लिये हम ऋभुओं पर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से भी कुछ संकेत किये देते हैं।

आधिदैविक ऋभु—

आधिदैविक दृष्टि से ऋभु आदित्य की रश्मियों को कहते हैं। नि० ४।१४ में आता है कि "आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते" अर्थात् आदित्य की रश्मियाँ भी ऋभु कहलाती हैं। उदाहरणार्थ ऋ० १।१६१।११,१२,१३ मन्त्र अवलोकनीय हैं। आदित्य अपनी रश्मियों द्वारा इस ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखता है। उसका काम है कि प्रकृति में स्थित अन्धकार को दूर करे और पदार्थों के अन्धकारावच्छिन्न स्वरूप को खोलकर सबके सामने रख देवे। रश्मियाँ आदित्य से शक्ति लेकर आती हैं और सौर मण्डल में स्थित एक एक पदार्थ से सम्बन्ध करती हैं। सब पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति, परिणाम, वर्धन, अपक्षय तथा विनाश आदि सब अवस्थाएँ आदित्य की रश्मियों के ही कारण हैं। आदित्य की रश्मियों के प्रभाव से ही वनस्पति, ओषधी तथा अन्न आदि सब पदार्थ बहुतायत में पैदा होते हैं और विकार आदि स्थितियों को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि वह आदित्य शक्ति का भण्डार है, प्रकाश स्तम्भ है और सब प्रकार के रसों का स्रोत है। इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में गति, प्रकाश तथा रसों का प्रवाह उसी के कारण है। उसी आदित्य से शक्ति तथा प्रकाशादि लेकर ये रश्मियाँ अखिल पदार्थों को प्रकाशित करतीं तथा उनमें परिवर्तन करती रहती हैं। इस प्रकार आधिदैविक क्षेत्र में आदित्य की रश्मियों को ऋभु कहते हैं।

आध्यात्मिक ऋभु—

आध्यात्मिक क्षेत्र में हमारा यह शरीर-रूपी पिण्ड ही ब्रह्माण्ड-स्थानीय है। इसमें मस्तिष्क आदित्य-मण्डल है। इस ब्रह्माण्ड में स्थित द्युलोक को भी शिर-स्थानीय माना गया है। वेद में जहाँ इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति लिखी है, वहाँ द्युलोक को परमात्मा के शिर से उत्पन्न माना गया है। जैसा कि यजु० ३१।१३ में आता है कि "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" अर्थात् परमात्मा के शिर से द्युलोक की उत्पत्ति हुई। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्ड का द्युलोक शिर-स्थानीय है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड-स्थानीय पिण्ड में मस्तिष्क को द्युलोक कहा जा सकता है। इस मस्तिष्क-रूपी आदित्य की रश्मियाँ यह नाड़ीसमूह (Nervous system) ही हैं जो कि मस्तिष्क से निकल कर सारे शरीर-रूपी राष्ट्र में फैल रही हैं। हम यह देख चुके हैं कि ऋभु तीन माने गये हैं। इसी प्रकार इस पिण्ड में भी तीन प्रकार की नाड़ियाँ हैं, जो कि ज्ञानवाहक (Sensitive), क्रियावाहक (Motive) और रसवाहक (Laxative) कही जाती हैं। इनका काम है कि शरीर-रूपी राष्ट्र में आदित्य के अधीन रहते हुए ज्ञान, क्रिया तथा रस का प्रवाह उत्पन्न करें।

आधिराष्ट्रिय ऋभु—

ऊपर हमने आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से ऋभुओं पर विचार किया। अब हम राष्ट्रिय दृष्टि से उन पर विचार करते हैं। पहिले भी हम ऋभुओं के स्वरूप पर प्रकाश डाल चुके हैं, और यह भी दर्शा चुके हैं कि ऋभु वैज्ञानिकों

की कोटि में आते हैं। जिस प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में ऋभु आदित्य-मण्डल की रश्मियाँ हैं, उसी प्रकार अधिराष्ट्र में भी ये आदित्य-नामक वैज्ञानिकों की रश्मियाँ होनी चाहियें। वेद में इन्हें त्वष्टा का शिष्य कहा ही है। त्वष्टा आदित्य का एक रूप है। इसलिये आलंकारिक भाषा में इन्हें आदित्यों की रश्मियाँ भी कह दिया गया है। ये ऋभु आदित्यों से छोटे हैं। जिस प्रकार तीनों प्रकार की नाड़ियाँ मस्तिष्क-रूपी आदित्य की शक्ति को सारे शरीर में विस्तृत कर देती हैं, उसी प्रकार ऋभु लोग आदित्य-नामक वैज्ञानिकों से आविष्कृत ज्ञान को सारे राष्ट्र में फैला देते हैं। इसलिए राष्ट्र में आदित्य विद्वानों को अन्वेषक (Discoverers) कह सकते हैं, तो आदित्यों से गृहीत ज्ञान, क्रिया तथा रस का राष्ट्र में विस्तार करनेवाले ऋभुओं को Scientific engineers कहा जा सकता है। वेदों में आदित्य के सम्बन्ध में जो वर्णन मिलता है वह भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है। आदित्यों का विस्तृत विवेचन तो इनके स्वतन्त्र निबन्ध की अपेक्षा रखता है, परन्तु यहाँ हम संक्षेप से थोड़ा-सा दिग्दर्शन-मात्र करा देते हैं।

ऋ० ७।६६।१३ में आदित्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है कि "ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः" अर्थात् आदित्य ज्ञानवाले हैं, ज्ञान में ही पैदा हुए हैं और ज्ञान में ही बढ़े हैं। परन्तु दूसरी तरफ ऋभु तो "ऋतेन भान्ति" ऋत के कारण केवल चमकते ही हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ऋत का राष्ट्र में प्रचार कर प्रसिद्धि पाते हैं।

ऋभुओं का ऋत से केवल-मात्र इतना सम्बन्ध है कि वे

ऋत का राष्ट्र में प्रचार करते हैं, और फिर उसके द्वारा यश प्राप्त करते हैं। परन्तु आदित्यों की तो उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि आदि सभी ऋत में है।

और जिस प्रकार ऋभुओं को "सत्यमन्त्राः" सत्य ज्ञान-वाले कहा है, उसी प्रकार आदित्यों को "अनृतद्विषः" अनृत से द्वेष करनेवाला कहा है। अथर्व १४।१।१ में तो आदित्यों की स्थिति ऋत से ही बतायी गयी है। मन्त्र इस प्रकार है—"ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति" अर्थात् आदित्यों की स्थिति ऋत से है। इसलिए आदित्य ऋभुओं से बड़े हैं। इनका काम केवल नयी नयी अन्वेषणाएँ करने का है। और उन अन्वेषणाओं के आधार पर नये नये यन्त्रादिकों का निर्माण कर उनका राष्ट्र में प्रचार करना ऋभुओं का काम है। इसीलिए इन्हें 'अपाकाः, मनोर्नपातः, सत्यमन्त्राः' के साथ साथ 'सुकृतः सुहस्ताः' भी कहा गया है। इसलिए आदित्यों को हम अन्वेषक (Discoverers) कह सकते हैं। और ऋभुओं को Scientific engineers कहा जा सकता है, जो कि राष्ट्र में आविष्कृत ज्ञान का प्रचार करते हैं। इस उपरिगत विवेचन से जब हमें उनकी स्थिति और स्वरूप का पता लग गया, तो हमें उनके 'सौधन्वनाः' विशेषण का भाव भी स्पष्टतया समझ में आ सकता है। वह भाव यह है कि ये ऋभु सामान्य प्रजा और आदित्यों के अन्तराल में होने के कारण अन्तरिक्ष में रहनेवाले हैं। 'सौधन्वनाः' शब्द का अर्थ भी यही है कि "सुष्ठुधन्व अन्तरिक्षं येषां ते" अर्थात् जो उत्तम अन्तरिक्षवाले हैं। आदित्य ज्ञान के भण्डार हैं और निरन्तर प्रकृति में से नये नये तत्त्वों का अन्वेषण करते रहते हैं।

इसलिए इन्हें आदित्य अर्थात् प्रकृति के पुत्र कहा गया है। और उनकी रश्मि-रूप ऋभु लोग उनसे शक्ति लेकर राष्ट्र में ज्ञान, क्रिया तथा रस का प्रसार करते हैं, इसलिये इन्हें (Scientific engineers) कह सकते हैं।

६. ऋभुओं की परस्पर विशेषता

अभी तक हमने ऋभुओं पर सामान्यरूप से विचार किया। अब हम उनकी परस्पर विशेषताओं पर भी कुछ प्रकाश डालते हैं।

ऋभु—

ऋभु शब्द "ऋ गतौ" धातु से निष्पन्न होता है। इसलिये ऋभु को हम राष्ट्र में गति के साधनों का निर्माण करनेवाला कह सकते हैं। ऋभु के सम्बन्ध में अथर्व० ४।१८।७ में आता है कि "यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान। ऋभू रथस्येवाङ्गानि संदधत् परुषा परुः। अथर्ववेद के इस मन्त्र में अरुन्धति से प्रार्थना की गई है कि जिस प्रकार ऋभु रथ के कटकर गिरे हुए अथवा नष्टप्राय अङ्गों को वैसे का वैसा जोड़ देता है, उसी प्रकार तू भी पत्थर से घायल अथवा कटे हुए शरीर के अङ्गों को जोड़ दे।

इसी प्रकार अथर्व १०।१।८ में 'कृत्या' के सम्बन्ध में कहा गया है कि तेरा निवास वहीं हो जो तेरी पोरी पोरी को जोड़ देता है, जिस प्रकार ऋभु रथ के अवयवों को जोड़ता है। मन्त्र इस प्रकार है। "यस्ते परूँषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया।" अर्थात् जो तेरी पोरी पोरी जोड़ देता है जिस प्रकार ऋभु रथ के अवयवों को जोड़ता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में ऋभु का काम नानाविध यानों के निर्माण करने का बताया गया है।

परन्तु कई मन्त्र उसके यान-निर्माण के अतिरिक्त और भी अन्य काम बताते हैं। ऋ० १।१११।५ में एक मन्त्र आता है कि "ऋभुर्भराय संशिशातु सातिम्" अर्थात् ऋभु युद्ध के लिये उपयोगी सामग्री का तक्षण करे। इस प्रकार यान-निर्माण के अतिरिक्त युद्ध के लिये शस्त्रास्त्र-निर्माण करने का भी काम ऋभु का बताया गया है।

ऋ० ६।३।८ में आता है कि "ऋभुर्न त्वेषः रभसानो अद्यौत्" ऋभु की तरह वेग को पैदा करता हुआ प्रकाशित हो रहा है। यहाँ पर तेज या वेग को पैदा करने में ऋभु से उपमा दी गई है। इसी प्रकार ऋ० १।११०।७ में आता है कि "ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान्" अर्थात् बल से हमेशा नया रहता हुआ ऋभु हमारा स्वामी है। इसका तात्पर्य यह है कि ऋभु नये नये आविष्कारों से राष्ट्र का बल बढ़ाता रहता है। इसलिये ऋभु युद्धोपयोगी नयी नयी सामग्री के बनाने तथा सूक्ष्मरचनायुक्त गति के साधन नानाविध यानों के निर्माण करने से आधुनिक परिभाषा में (Mechanical crafts) कहा जा सकता है। आध्यात्मिक क्षेत्र में यह काम क्रियावाहक नाड़ी (Motive Nerves) का है।

विभ्वा—

विभ्वा शब्द से विभुत्व अर्थात् व्यापकत्व का भाव प्रतीत होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी विषय में निष्णात हो जाये तो हम उसे यह कह सकते हैं कि अमुक व्यक्ति अमुक विषय में

व्याप.रहा है। विभ्वा का काम भी व्यक्तियों को ट्रेनिङ्ग देकर व्यापक बनाने का है, इसलिये इसे विभ्वा कह दिया गया है। अब हम वेद मन्त्रों के आधार पर विभ्वा के स्वरूप पर कुछ विचार करते हैं।

ऋ० ३।४९।१ में आता है कि "यं सुक्रतुं धिषणे विभ्वतष्टम्" यहाँ इन्द्र का वर्णन चल रहा है, उसके लिये कहा गया है कि यह इन्द्र अर्थात् राजा विभ्वा से तक्षण किया गया है। राजा को राज्यभार के वहन करने के योग्य बनाना, उसे राजकीय ट्रेनिङ्ग देना विभ्वा का काम है। अगला मन्त्र तो इस बात को अत्यन्त स्पष्ट कर रहा है। ऋ० ५।५८।४ में आता है कि "यूयं राजानमिर्यं जनाय विभ्वतष्टम्" अर्थात् हे मरुतो ! तुम विभ्वा से तक्षण किये गये मनुष्यों के स्वामी राजा को पैदा करते हो। यहाँ पर 'राजानम्' का विशेषण "विभ्वतष्टम्" आता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि राजा को राज्यभार के वहन करने के योग्य बनाना विभ्वा का काम है।

इन उपर्युक्त मन्त्रों में तो राजा के तक्षण के सम्बन्ध में कहा है। परन्तु अगले मन्त्रों में 'विभ्वा' का काम मनुष्य-मात्र को तक्षण करने का बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है— "विभ्वो रथं नर्यं वर्तयन्तु" ऋ० ७।४८।१ अर्थात् विभु लोग मानवीय रथ को चलावें। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को शिक्षा आदि के द्वारा अभीष्ट उद्देश्य की ओर ले चलें। यही भाव ऋ० ४।३४।९ में इस प्रकार आता है कि "ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः" अर्थात् जिन विभ्वा मनुष्यों ने शिक्षा आदि के द्वारा सन्तानों को उत्तम बनाया। ऋ० ४।३६।५ में यही बात इस प्रकार कही गई है। "विभ्वतष्टो विदथेषु प्रवाच्यः" अर्थात्

विभ्वा से ट्रेनिङ्ग पाया हुआ व्यक्ति ज्ञानगोष्ठियों में प्रशंसित होता है। इस प्रकार मनुष्यों को तक्षण करना, सन्तति को ट्रेनिङ्ग देकर उत्तम बनाना इत्यादि मानवीय तक्षण से सम्बन्ध रखनेवाली बातें राष्ट्र में विभ्वा से सम्बन्ध रखती हैं।

ऋ० ४।३३।९ में विभ्वा के सम्बन्ध में एक और बात कही गई है। वह इस प्रकार है, "वाजो देवानामभवत् सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा" अर्थात् वाज देवताओं में उत्तम कर्म करनेवाला माना गया है, ऋभु का सम्बन्ध इन्द्र से है और विभ्वा का वरुण से। इस मन्त्र में यह बताया गया है कि वरुण का सम्बन्ध विभ्वा से है। वरुण देवता का स्वरूप और उसका काम क्या है? इत्यादि बातें विस्तृत विचार की अपेक्षा रखती हैं। परन्तु संक्षेप में वरुण के सम्बन्ध में इतना ही कह सकते हैं कि "वरुणोऽपामधिपतिः" अथर्व ५।२४।४ अर्थात् वरुण "आपः" का अधिपति है। "आपः" शब्द सामान्यतया दो चीजों के लिये प्रयुक्त होता है। एक तो जल के लिये दूसरा प्रजा के लिये। इसलिये विभ्वा का जो वरुण के साथ सम्बन्ध है, उससे यही प्रतीत होता है कि विभ्वा का भी जल और प्रजा इन दोनों के साथ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध यही हो सकता है कि विभ्वा इनका तक्षण करता हो। प्रजा का तक्षण विभ्वा करता है यह तो हम देख ही चुके हैं। जल प्रवाह को ले जाने वाली नदियों या नहरों का तक्षण भी विभ्वा का काम है, यह निम्न मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है। मन्त्र इस प्रकार है "वृष्णः पत्नीर्नद्यो विभ्वतष्टाः" अर्थात् विभ्वा से तक्षण की हुई नदियाँ या नहरें। सायण ने भी इसका अर्थ यही किया है "नद्यो नदनशीला गङ्गाद्याः विभ्वतष्टाः ऋभूणां मध्यमेन कृताः" अर्थात् शब्द करने

वाली गङ्गा आदि नदियां ऋभुओं में से विभ्वा की बनायी हुई हैं। इससे यही प्रतीत होता है कि राष्ट्र में नहरें आदि खुदवाने का काम विभ्वा का है। नदी का अर्थ नहरें होता है यह "वज्रेण खान्यतृणन्नदीनाम्" अर्थात्, वज्र से अनायास ही नदी अर्थात् नहरों को खोद डालते हैं, इससे स्पष्ट है। यदि कोई इस विषय में विशेष जानना चाहें वे 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय' के आचार्य पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति के "आर्य" के १९९३, आश्विन, कार्तिक के अंकों में "राजा राष्ट्र में नहरें खुदवावे" प्रकरण को पढ़ लें।

विभ्वा के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है, वह यह कि प्रजा को शिक्षित करनेवाले तथा नहरें खुदवानेवाले इन दोनों को विभ्वा क्यों कहा गया है? इस विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि प्रजा भी एक नदी की धारा के समान है। नदी के प्रायः सभी गुण प्रजा से मिलते हैं। जिस प्रकार नदी या नहर आदि का रुख बांध के द्वारा अभीष्ट दिशा की ओर मोड़ा जा सकता है, उसी प्रकार प्रजा का रुख भी शिक्षा आदि के द्वारा अभीष्ट दिशा की ओर किया जा सकता है। क्योंकि इन दोनों के गुण आपस में समान हैं। इन दोनों को नियन्त्रण में करने तथा अभीष्ट दिशा की ओर ले चलने के लिये एकही तत्व काम करता है। इसलिये इन दोनों पर नियन्त्रण रखने वाले को विभ्वा कह दिया गया है। विभ्वा का काम राष्ट्र में वही है जो आध्यात्मिक जगत् में ज्ञानवाहक नाड़ी (Sensitive Nerves) का है।

वाज—

ऊपर हम ऋभु और विभ्वा के सम्बन्ध में विचार कर

चुके। ये दोनों आध्यात्मिक क्षेत्र के अनुसार राष्ट्ररूपी शरीर में क्रिया तथा ज्ञान का प्रसार करनेवाले हैं। इसलिये अवशिष्ट वाज राष्ट्र में रस अर्थात् अन्नादि का विस्तार करनेवाला हुआ। वाज शब्द बल तथा अन्न इन दोनों अर्थों में भी प्रयुक्त होता है। इन दोनों अर्थों में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है। श्रेष्ठ अन्न खाने से ही बल बढ़ता है। इसलिये स्वयं अन्न को भी बल कहा जा सकता है। इसी वाज अर्थात् अन्न पर नियन्त्रण रखनेवाले ऋभु को वेद में वाज नाम से याद किया गया है। यह ऋ० ६।५०।१२ से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। वहाँ आता है "ऋभुक्षा वाजो दैव्यो विधाता पर्जन्या वाता पिप्यतामिषं नः" अर्थात् जहाँ पर्जन्य वायु आदि इष अर्थात् अन्न को बढ़ावें वहाँ वाज भी बढ़ावे। इस प्रकार वाज से अन्न की वृद्धि की प्रार्थना की गई है। इसलिये वाज स्वयं अन्न को भी कहते हैं, और अन्न पर नियन्त्रण रखनेवाले व्यक्ति को भी वाज कह दिया गया है। ऋ० ४।३६।५ में भी वाज को अन्नोत्पादक के रूप में दिखाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है। "ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः" अर्थात् ऋभु से प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ यशवाली रयि प्राप्त होती है और वाज नाम से प्रसिद्ध मनुष्य जिस रयि को पैदा करते हैं। इस प्रकार वाज का सम्बन्ध अन्नोत्पादन से बताया गया है। ऋ० १।११०।६ में भी एक मन्त्र आता है जहाँ कि इन्द्र अर्थात् राजा से प्रार्थना की गई है कि वह वाजों के द्वारा अन्न के संविभाग में हमारी रक्षा करे। मन्त्र इस प्रकार है। "वाजेभिर्नो वाजसातौ अविड्ढि" अर्थात् वाजों के द्वारा अन्न के संविभाग में इन्द्र हमारी रक्षा करे।

ऋ० १।१११।५ में एक मन्त्र आता है, जो इस प्रकार है।

"समर्यजित् वाजो अस्मानविष्टु" अर्थात् युद्ध में विजयी होनेवाला वाज हमारी रक्षा करे। इसका तात्पर्य यह है कि वाज के द्वारा श्रेष्ठ अन्न उत्पन्न हो, जिसको सेवन कर हम ऐसे बलशाली हों, जिससे कि हमें कोई संग्रामों में पराभूत न कर सके। वाज का युद्धों में विजयी होने का तात्पर्य यही है। ऋभु सूक्तों में वाज का प्रायः अन्नोत्पादक या ऐश्वर्योत्पादक के रूप में ही वर्णन मिलता है। इसलिये वाज राष्ट्ररूपी शरीर में अन्न पहुँचाने वाला है। इसलिये इसे हम (Land crafts) कह सकते हैं।

अब विचारणीय यह है कि ऋभु का ज्येष्ठत्व, विभ्वा का कनीयस्त्व (मझलापन) और वाज का कनिष्ठत्व किस प्रयोजन से है? इस विषय में हम अभी कुछ नहीं कह सकते। वेदों में अव्याहत गति रखनेवाले विद्वान् इस पर विचार करें। परन्तु थोड़े बहुत स्वाध्याय से जो कुछ मैं पता लगा सका हूँ वह आपके सामने रख देता हूँ।

ऋभु ज्येष्ठ क्यों है? इसका कारण यही प्रतीत होता है कि विभ्वा और वाज इन दोनों को अपने अपने क्षेत्रोपयोगी साधनों के लिये ऋभु पर आश्रित होना पड़ता है। जिस प्रकार शरीर में गति करानेवाली क्रियावाहक नाड़ियाँ हैं, उनके बिना शरीर मुर्दा होता है। उसी प्रकार राष्ट्र में क्रिया (Activity) का करानेवाला ऋभु है। बिना गति के राष्ट्र भी मृतप्राय होता है। इसलिये भी ऋभु, विभ्वा और वाज से बड़ा है। विभ्वा को नव स्नातकों को यज्ञदीक्षा (Training) देने के लिये और नहरें खुदवाने के लिये साधन सामग्री ऋभु से ही लेनी पड़ती है। इसी प्रकार वाज को भी अपने क्षेत्र अर्थात्

अन्नोत्पादन के लिये साधन सामग्री ऋभु से ही लेनी पड़ती है। क्योंकि सब क्षेत्रों के लिये अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण ऋभु ही करता है। वाज को ऋभु के अतिरिक्त विभ्वा से भी सहायता लेनी पड़ती है। क्योंकि अन्नोत्पादन के लिये कार्यकुशल व्यक्ति विभ्वा की कृपा से ही मिलते हैं। इसलिये ऋभु ज्येष्ठ, विभ्वा कनीयान् तथा वाज कनिष्ठ कहलाता है।

इस प्रकार ये ऋभु विभ्वा और वाज एक सामान्य ऋभु नाम से कहे जाते हैं। ये राष्ट्र में ज्ञान, क्रिया तथा रस का प्रचार करते हैं। इसलिये ऋभुओं के स्वरूप तथा कार्यों को दृष्टि में रखते हुए ऋभु, विभ्वा और वाज को हम क्रम से Mechanical craft, State craft तथा Land-craft कह सकते हैं।

१०. ऋभुओं का गुरु त्वष्टा

ऋभुओं के स्वरूप को स्पष्टतया समझने के लिये त्वष्टा देवता के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि ऋभुसूक्तों में कई स्थानों पर त्वष्टा देवता का इस प्रकार से वर्णन आया है कि इससे ऋभुओं के साथ उसका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। उदाहरण के तौर पर दो तीन स्थल आपके सामने रखता हूँ।

ऋ० १।२०।६ में आता है कि—

उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः॥

अर्थात्—उस नये चमस को—जिसका त्वष्टा देव ने संस्कार किया है—चार में विभक्त करो।

इस उपर्युक्त मन्त्र में ऋभुओं से कहा गया है कि त्वष्टा से

संस्कृत किये हुए चमस के चार विभाग करो। अब अगले एक मन्त्र में फिर त्वष्टा के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

यदावाख्यच्चमसान् चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तर्न्यानजे।

ऋ० १।१६१।४

अर्थात—जब त्वष्टा ने चमस को चार विभागों में विभक्त हुआ हुआ देखा तब वह स्त्रियों में जा छिपा या अपने को स्त्री समझने लगा।

इस उपर्युक्त मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि वह त्वष्टा—ऋभुओं ने चमस के चार विभाग किये हैं कि नहीं—यह देखने आता है। अगले मन्त्र में त्वष्टा के सम्बन्ध में एक और बात कही गई है—वह इस प्रकार है।

हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः।

ऋ० १।१६१।५

अर्थात्—जो ऋभु देवपान चमस की निन्दा करेंगे उनको मारा जायेगा। इस मन्त्र में त्वष्टा ने ऋभुओं को मारने की धमकी भी दी है। इस प्रकार इन वर्णनों से यह झलक रहा है कि त्वष्टा ऋभुओं का कोई अधिकारी है, और ऋभु त्वष्टा के नीचे उसके नियन्त्रण में काम करने वाले हैं।

सायण ने तो स्पष्ट ही इसको ऋभुओं का गुरु स्वीकार किया है। ऋ० १।२०।६ के भाष्य में वह लिखता है कि "तक्षणव्यापारकुशलस्य त्वष्टुः शिष्या ऋभवः" अर्थात् तक्षण में कुशल त्वष्टा के ये ऋभु शिष्य हैं। इसलिये विचारणीय यह है कि त्वष्टा कौन है? और उसका ऋभुओं के साथ क्या सम्बन्ध है? त्वष्टा का विस्तृत विवेचन तो स्वतन्त्र रूप से फिर कभी

किया जायेगा। परन्तु ऋभुओं के स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिये जितना आवश्यक है, उतना हम इसके ऊपर विचार करते हैं।

त्वष्टा शब्द 'त्वक्ष तनूकरणे' धातु से औणादिक तृन् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। "त्वक्षतीति वा त्वष्टा" अर्थात् जो तक्षण करे वह त्वष्टा, ऐसा इस शब्द का धात्वर्थ है। लोक में यह सामान्य तरखान या बढ़ई समझा जाता है। हेमचन्द्र ने अपने कोष में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है कि 'त्वक्षति तनूकरोति काष्ठादिकं शिल्पकार्यत्वात्' अर्थात् जो शिल्पकार्य के लिये काष्ठ आदियों को छील-छाल कर तय्यार करे वह त्वष्टा है।

परन्तु तक्ष धातु का वेद में प्रयोग बहुत विस्तृत अर्थों में हुआ है, यह मैं ऋभुओं के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए दिखा चुका हूँ। इसलिये वेद के तक्ष धातु के प्रयोगों को देखते हुए त्वष्टा शब्द के धात्वर्थ से ही त्वष्टा का स्वरूप-निरूपण करना बहुत कठिन है। परन्तु धात्वर्थ के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि त्वष्टा का तक्षण से बहुत गहरा सम्बन्ध है। माघ ने द्वारका का वर्णन करते हुए अपने ग्रंथ 'शिशुपालवध' में त्वष्टा के सम्बन्ध में लिखा है कि "त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसवस्य सीमा" ३।३५ (शब्दरूप कल्पद्रुम, त्वष्टा) अर्थात् द्वारिकावासी त्वष्टा से सदा शिल्प विज्ञान तथा उत्पत्ति-शास्त्र को सीखते रहते हैं।

इस प्रकार माघ ने त्वष्टा को शिल्प विज्ञानादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा उत्पत्ति-शास्त्र (Eugenics) का पण्डित माना है। अब हम वैदिक प्रमाणों से त्वष्टा के स्वरूप पर विचार करते हैं।

उत्पत्ति-शास्त्र का वेत्ता त्वष्टा—

वेद में त्वष्टा के सम्बन्ध में कई ऐसे मन्त्र आते हैं जिसमें कि उससे पुत्र की याचना की गई है। और यह भी वर्णन आता है कि दम्पती को जिन गुणोंवाले और जैसे पुत्र की कामना हो वैसा ही पुत्र त्वष्टा के प्रभाव से वे पैदा कर सकते हैं। इसका मतलब है कि त्वष्टा को उत्पत्ति शास्त्र (Eugenics) का विशेषज्ञ होना चाहिये और उसके पास ऐसे साधन होने चाहियें जिससे कि वह अभीष्ट सन्तान को पैदा करा सके। अब हम कुछ मन्त्र इसी सम्बन्ध के आपके सामने रखते हैं।

पिशङ्गरूपः सुभरो वयोधाः श्रुष्टी वीरो जायते देवकामः।
प्रजां त्वष्टा विष्यतु नाभिमस्मे अथा देवानामप्येतु पाथः॥

ऋ० २।३।६

अर्थात्—सुवर्ण के समान रङ्गवाला, उत्तम भरणपोषण करने वाला, दीर्घायु, शीघ्र काम करनेवाला, दिव्य गुणों तथा विद्वानों की कामना करनेवाला, वीर पुत्र त्वष्टा के अनुग्रह से पैदा हो। और यह त्वष्टा हमारे कुल को चलानेवाली सन्तान हमें देवे। और देवताओं के योग्य अन्न भी हमें देवे और देवताओं का रास्ता हमें बतावे जिससे हम ऐसा पुत्र पैदा कर सकें।

अगले मन्त्र में त्वष्टा से वीर पुत्र की कामना की गई है। और 'सुपाणि' शब्द से यह भी निर्देश किया गया है कि उसके हाथों में कोई चमत्कार है, जिससे वह जैसा चाहे पुत्र पैदा करा सकता है। मन्त्र इस प्रकार है—

आयन्नः पत्नीर्गमन्त्यच्छा त्वष्टा सुपाणिर्दधातु वीरान्।

ऋ० ७।३४।२०

अर्थात्—पत्नियाँ पुत्र-कामना से जब हमारी ओर आवें तब सुपाणि त्वष्टा हमें वीर पुत्र धारण करावे।

अगले एक मन्त्र में भी त्वष्टा से वीर और देवताओं की कामना करनेवाले पुत्र की याचना की गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

त्वष्टा वीरं देवकामं जजान। यजु० २६।६

अर्थात्—त्वष्टा ने वीर और दिव्य गुणों तथा विद्वान् पुरुषों का संग चाहनेवाले पुत्र को पैदा किया।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में यह दर्शाया गया है कि त्वष्टा अपने साधनों से यथाभिलषित सन्तान पैदा करा सकता है। अब हम यह देखना चाहते हैं कि त्वष्टा उत्तम सन्तान पैदा कराने के लिये क्या क्या उपाय करता है।

ऋ० १०।१८४।१ में कहा गया है कि—

त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिः॥

इसका सायण भाष्य इस प्रकार है कि—"त्वष्टा तनुकर्ता एतत् संज्ञको देवश्च रूपाणि निरूपकाणि स्त्रीत्वपुंस्त्वाभिव्यञ्जकानि चिह्नानि पिंशतु अवयवी करोतु।...एवं प्रक्लृप्तायां योन्यां प्रजापतिः रेत आसिञ्चतु निषिञ्चतु विसृजत्वित्यर्थः। अर्थात् त्वष्टा स्त्रीत्व या पुंस्त्व के अभिव्यञ्जक चिन्हों को बनावे और फिर प्रजापति इस प्रकार की योनि में वीर्याधान करे। इसका तात्पर्य यह है कि त्वष्टा के अन्दर वह सामर्थ्य है कि यदि लड़का चाहो तो लड़का पैदा करा सकता है, लड़की चाहो तो लड़की, और जिन गुणों से सम्पन्न सन्तान चाहो—वैसी सन्तान पैदा करवा सकता है। इसी बात की पुष्टि के लिये कि वह यथाभिलषित सन्तान पैदा करा सकता है—यजुर्वेद में एक मन्त्र आता है,

जहाँ कि त्वष्टा से प्रार्थना की है कि तू मेरे वीर्य को उत्तम बना, जिससे कि मैं उत्तम सन्तान प्राप्त कर सकूँ । मन्त्र इस प्रकार है—

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षुं त्वष्टा सुवीर्यम् ।
रायस्पोषं विष्यतु नाभिमस्मे ॥ यजुः२७।२०

अर्थात्—त्वष्टादेव उस प्रसिद्ध ऐश्वर्य की पुष्टि हमारी नाभि में छोड़े जो कि शीघ्र फल को प्राप्त करानेवाली हो, अद्भुत-शक्ति रखनेवाली हो, प्रभूत-मात्रा में हो, और वीर्य को उत्तम बनाने वाली हो ।

इस प्रकार त्वष्टा अपनी ओषध आदि शक्तियों से वीर्य को उत्तम बनाता और जैसी चाहो वैसी सामर्थ्य पैदा कर देता है । इससे पता चला कि त्वष्टा स्त्रियों की योनि को तो इस योग्य बनाता ही है, परन्तु पुरुषों में भी अभीष्ट सामर्थ्य पैदा कर देता है ।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण भी इस बात को सिद्ध करते हैं कि त्वष्टा रेतस् के अन्दर वह सामर्थ्य पैदा कर देता है जिससे जैसी चाहो वैसी सन्तान प्राप्त हो जाये । श० १।६।२।१०॥ ३।७।२।८॥ में आता है कि "त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति" अर्थात् त्वष्टा सिक्त रेत को विशेष या उलटा कर देता है । अर्थात् यदि पुत्र चाहो तो पुत्र और पुत्री चाहो तो पुत्री कर देना उसके सामर्थ्य में है ।

वर-वधू का निर्वाचन—

इसी सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है, वह यह कि स्त्रीत्व या पुंस्त्व कर देना या बहुगुण सम्पन्न सन्तान का पैदा करना केवल ओषध आदि बाह्य साधनों पर ही आश्रित

नहीं परन्तु स्त्री और पुरुषों के गुणों पर भी आश्रित है। इस लिये वैद्यक-शास्त्रों में तथा अन्य धर्म-शास्त्रों में अनुकूल गुणों वाले स्त्री-पुरुषों को चुनना और फिर उनका सम्बन्ध कराना—यह भी बड़ा कठिन काम है। यह वही करा सकता है जो उत्पत्ति-शास्त्र आदि का विद्वान् हो। इसलिये त्वष्टा का एक यह भी काम बताया गया है कि वह योग्य वरों का चुनाव करता है। इसके सम्बन्ध में मन्त्र इस प्रकार है—

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आबध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति॥

अथर्व ६।८१।३

अर्थात्—अखण्डित ब्रह्मचारिणी स्त्री, पुत्र की अभिलाषा वाली होकर निज पाणिग्रहण करने वाले जिस पति को धारण करती है, उसको इस पत्नी के साथ त्वष्टा बाँधता है, जिससे कि वह पुत्र उत्पन्न करे।

इसी सम्बन्ध में अथर्ववेद ६।७८।३ में मन्त्र आता है कि—

त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टा अस्यै त्वां पतिम्।

अर्थात्—त्वष्टा ने स्त्री को जाया बनाया और उस स्त्री के लिये तुझे पति चुना।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि त्वष्टा का एक काम यह भी है कि वह योग्य वरों का चुनाव करे। और यह स्वाभाविक भी है, अन्यथा बेमेल विवाह या अनमेल विवाह होने पर वाञ्छित सन्तान नहीं हो सकती। इसलिये यह योग्य वरों के चुनाव का महकमा भी त्वष्टा ही के अधीन होना चाहिये।

उत्तम सन्तति पैदा करने में स्त्रियों का बहुत बड़ा हाथ होता है। इस लिये त्वष्टा का सम्बन्ध विशेष कर स्त्रियों के साथ ही है। इसका यह मतलब नहीं कि पुरुषों के साथ या अन्य क्षेत्रों में उसका सम्बन्ध नहीं, परन्तु कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य की तक्षणशाला या शिल्पशाला यदि कोई है तो स्त्री ही है। स्त्री-शाला में ही पुरुष घढ़ा जाता है। इसलिये त्वष्टा का विशेष सम्बन्ध स्त्रियों से है। इसके सम्बन्ध में वेद से बहुत प्रमाण दिये जा सकते हैं। परन्तु निबन्ध का कलेवर न बढ़ जाये—इस भय से हम इस विषय को यहीं छोड़ते हैं।

कई यह शंका कर सकते हैं कि क्या त्वष्टा स्त्री-पुरुष के उत्पत्ति-शास्त्र का ही ज्ञाता है? या अन्य पशु आदि प्राणियों का भी है। अर्थात् किस प्रकार उत्तम गौवें, घोड़े आदि पैदा किये जायें—इत्यादि अन्य प्राणियों के सम्बन्धी उत्पत्तिशास्त्र का ज्ञाता त्वष्टा है कि नहीं! इस पर हमारा निवेदन यह है कि वह उत्पत्तिमात्र का ज्ञाता है। दुनिया में कोई भी उत्पत्ति चाहे वह मानवीय हो, प्राकृतिक हो, या पशु सम्बन्धी हो—इसमें सबसे सूक्ष्म तथा उत्तम शिल्पशाला स्त्री-शाला है। इसी के अनुसार अन्य शालाओं का भी जो ज्ञाता होगा उसे भी त्वष्टा कहेंगे। वेद में कई ऐसे प्रमाण आते हैं जहाँ त्वष्टा से पुत्रों के साथ साथ उत्तम पशुओं की भी याचना की गई है। उदाहरण के तौर पर दो तीन मन्त्र मैं आप के सम्मुख रखता हूँ।

यजु० ३७।२० में आता है कि—

"त्वष्टृमन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून् मयिधेहि"।

अर्थात्—हम त्वष्टावाले हैं। इसलिये हे राजन्! पुत्र और पशु हमें दे। यहाँ पर राजा से प्रार्थना है कि त्वष्टा को हमने

उत्तम सन्तान तथा उत्तम पशु पैदा करवाने के लिये बुला लिया है। इसलिये हमारे लिये तू सब सहूलियतें प्रदान कर।

यजु० २६।६ में स्पष्ट कहा ही है कि—'त्वष्टुरर्वा जायत आशुरश्वः' अर्थात् त्वष्टा की दया से शीघ्रगामी घोड़ा पैदा होता है।

इस प्रकार पशुओं के उत्पत्तिशास्त्र का वेत्ता भी त्वष्टा ही कहलाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि सब पशुओं की उत्पत्ति त्वष्टा के अधीन होती है।

श० ३।७।३।११ 'त्वष्टा वै पशूनामीष्टे' अर्थात् त्वष्टा पशुओं का स्वामी है। 'त्वष्टुर्हि पशवः' श० ३।८।३।११ अर्थात् पशु त्वष्टा के हैं।

इसलिये सब उत्पत्तियों का रहस्यावबोधन करनेवाला व्यक्ति वेद में त्वष्टा नाम से कहा जाता है। मनुष्यों में योग्य वरों का चुनाव और पशुओं में क्रौसिङ्ग (Crossing) के लिये चुनाव करना भी त्वष्टा का ही काम है।

त्वष्टा वैद्य के रूप में—

वेद में कई ऐसे मन्त्र आते हैं जहाँ त्वष्टा से प्रार्थना की गई है कि वह हमारे शरीर की बीमारियों को दूर करे, और नष्ट हुई शारीरिक शक्तियों को पुनः प्राप्त करावे। ऊपर हम यह दर्शा चुके हैं कि त्वष्टा अपने प्रभाव से वीर्य को उत्तम तथा तेजस्वी बना देता है। वीर्य के बलशाली और उत्कृष्ट होने पर शरीर की सब शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित होती हैं, और जो न्यूनताएँ शरीर में होती हैं, वे सब दूर हो जाती हैं। अब हम यह दर्शाना चाहते हैं कि त्वष्टा का सम्बन्ध केवल उत्पत्ति से

ही नहीं है, अपितु शरीर की सुघड़ता और नीरोगता से भी उसका सम्बन्ध है। त्वष्टा से नीरोग जीवन तथा दीर्घायु की प्रार्थना भी कई मन्त्रों में की गई है।

यजु० २।२४ में आता है कि—

त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम्।

अर्थात्—उत्तम दानशील त्वष्टा हमें ऐश्वर्य धारण करावे और शरीर में जो न्यूनताएँ आ गई हों उन्हें दूर करे।

यही बात सामान्य परिवर्तन से अथर्ववेद में भी कही गई है। वहाँ आता है कि—

'त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो यद् विरिष्टम्।' ६।५३।३

अर्थात्—त्वष्टा हमें सबसे उत्तम वरण करने योग्य पदार्थ प्राप्त करावे और जो हमारे शरीर का रोग से पीड़ित भाग हो उसको रोगरहित करे।

अथर्व० ३।२०।१० में आता है कि "त्वष्टा पोषं दधातु मे" अर्थात् त्वष्टा मेरे अन्दर पुष्टि को धारण करावे।

अथर्व० १२।२।२४ में तो सारे जीवन का रोगरहित रहने का उत्तरदायित्व त्वष्टा के सुपुर्द किया गया है, मन्त्र इस प्रकार है।

आरोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिस्थ।
तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥

अर्थात्—हे मनुष्यो! आप लोग वृद्धावस्था को दूर करते हुए दीर्घ जीवन प्राप्त करें। पहले ब्रह्मचर्याश्रम के अनुकूल यत्न करते हुए संयम में रहो। आप लोगों के साथ समान प्रीतिसेवी, श्रेष्ठ उत्पत्तिवाला त्वष्टा जीवन के लिये तुम सबकी सम्पूर्ण आयु का नेतृत्व करे।

इस प्रकार इन उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि त्वष्टा उत्पत्ति-शास्त्र-वेत्ता के साथ साथ एक बहुत उत्तम वैद्य भी है। त्वष्टा से क्षीण हुई शक्तियों की पुनः प्राप्ति की प्रार्थना तथा दीर्घायु की कामना यही सिद्ध करती है कि वह राष्ट्र में मनुष्यों के उत्तम तथा बलिष्ठ शरीरों का बनानेवाला है। और यह स्वाभाविक भी है कि जो राष्ट्र में उत्तम सन्तानों की उत्पत्ति करानेवाला हो, उसे उन सब बातों का विशेषज्ञ होना चाहिए जो उत्तम सन्तानोत्पत्ति में मुख्य कारण हैं। शरीर का नीरोग होना तथा बलिष्ठ होना उत्तम सन्तानोत्पत्ति में मुख्य कारण है। इसलिये उत्पत्तिशास्त्र का विशेषज्ञ होते हुए उसे उत्तम वैद्य भी होना चाहिये। और, इसके साथ साथ दो नीरोग तथा अनुकूल वरों का चुनाव भी उसे करना चाहिये।

त्वष्टा के सम्बन्ध में अब तक हम यह देख चुके हैं कि राष्ट्र में त्वष्टा का काम, मनुष्यों की और पशुओं की उत्पत्ति तथा उनकी नस्लों को उत्तम बनाने का है। और साथ ही इस चीज़ के लिये उसे उत्तम वैद्य भी होना चाहिये।

शिल्पी त्वष्टा—

परन्तु हमारे संस्कृत-साहित्य में त्वष्टा को शिल्पी माना गया है। और, वेद में भी कई स्थलों पर ऐसा ही वर्णन पाया जाता है। इसलिये अब हम उसके इस स्वरूप पर भी बहुत संक्षेप में विचार करते हैं। सायण ने तो उसे कई स्थलों पर 'देवशिल्पी' अर्थात् देवताओं का शिल्पी ऐसा माना ही है। उदाहरण के लिये ऋ० ६।१७।१० और १७।४६।१० का सायण-भाष्य देखा जा सकता है। ऋ० १।८५।६ में सायण ने त्वष्टा

को 'विश्वनिर्माता' अर्थात् अनेकों पदार्थों का निर्माण करने वाला माना है। इसी प्रकार ऋ० १।१६२।३ में उसे 'सर्वस्योत्पादकः' अर्थात् सब चीज़ों का उत्पन्न करनेवाला ऐसा कहा है।

ऋ० १०।४८।३ में त्वष्टा के सम्बन्ध में कहा है कि "मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसम्" अर्थात् मेरे (इन्द्र) लिये त्वष्टा ने लोहे का वज्र घढ़ा है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा को राष्ट्र-रक्षा के लिये त्वष्टा शस्त्रास्त्रों को बनाकर देता है। उसी प्रकार अन्य भी कई स्थलों पर त्वष्टा का शिल्पी होने का वर्णन आता है। पुराणों में तो त्वष्टा के शिल्पी होने का बहुत ही विस्तृत वर्णन पाया जाता है। इन सब उपर्युक्त वर्णनों से यही पता चलता है कि त्वष्टा का उत्पत्ति-मात्र से सम्बन्ध है। वह उत्पत्ति चाहे मानवीय हो, चाहे पाशवीय हो, और चाहे भौतिक हो—सभी के साथ त्वष्टा का सम्बन्ध है।

रूपकृत् *(Designer)*—

त्वष्टा के सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि त्वष्टा की विशेषता रूप देना—यह बताई गई है। रूप के सम्बन्ध में हम एक दृष्टि से ऊपर विचार कर ही चुके हैं कि त्वष्टा सिक्त रेत का यथाभिलषित रूप देता है। परन्तु रूप के सम्बन्ध में मन्त्रों से और भी ध्वनि निकलती है, वह यह कि त्वष्टा वस्तु के निर्माण से पहिले उसका रूप (Design) भी तय्यार करता है। वैसे तो उत्पत्ति में रूप आदि बनाना भी आ ही जाता है, परन्तु इसका स्वतन्त्र वर्णन करना ही ठीक है। अथर्व ५।२६।८ में आता है कि "त्वष्टा युनक्तु बहुधानुरूपा अस्मिन् यज्ञे" अर्थात् इस यज्ञ में त्वष्टा रूपों को बहुत प्रकार से जोड़े, अर्थात् बनावे। इस प्रकार इससे रूप

(Design) बनाने का भाव भी स्पष्ट झलक रहा है। अथर्व० २।२६।१ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है, वहाँ आता है कि, "त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेद" अर्थात् त्वष्टा जिनके, क्या रूप देने चाहियें, ऐसा जानता है। यजु० ३१।१७ में तो स्पष्ट ही रूप (Design) का भाव टपक रहा है। वहाँ आता है कि—"तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति" अर्थात् त्वष्टा उसके रूप को लिये हुए आ रहा है। इसलिये त्वष्टा का एक स्वरूप रूप (Design) देनेवाला भी बताया गया है।

दूसरा रूप देने का तात्पर्य श्रेणी-विभाजन (Classification) भी हो सकता है। उत्तम नस्ल पैदा करने के लिये, तथा उत्तम पदार्थों के चुनाव के लिये श्रेणी-विभाजन अत्यन्त आवश्यक है। बिना श्रेणी-विभाजन के यथाभिलषित तथा उत्तम उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये चुनाव करके उत्तम, मध्यम, अधम आदि श्रेणियों में विभक्त करना भी त्वष्टा का ही काम है।

आधिदैविक क्षेत्र में सूर्य को त्वष्टा कहते ही हैं, यह अत्यन्त स्पष्ट है।

इस प्रकार त्वष्टा उत्पत्ति-शास्त्र का ज्ञाता है। उसने चमस (मस्तिष्क) की परीक्षा करके उनका श्रेणी-विभाजन किया, और चार विभाग करने के लिये ऋभुओं को सुपुर्द कर दिया। इस कारण त्वष्टा को हम ऋभुओं का गुरु मान सकते हैं।

११. इन्द्र के हरी

इन्द्र के दो घोड़ों का हरी इस द्विवचन से वेद में प्रायः वर्णन देखने में आता है। परन्तु यह देखना है कि क्या ये

साधारण घोड़े हैं या अलौकिक घोड़े हैं। इससे पहिले कि हम इन्द्र के हरी अर्थात् इन दो घोड़ों पर विचार करें, हम वेद में घोड़ों के सामान्य वर्णन पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। हम यह नहीं कहना चाहते कि वेद में साधारण घोड़ों का वर्णन कहीं नहीं है। परन्तु यह कहे बिना नहीं रह सकते कि वेद में अलौकिक अश्वों का वर्णन भी अवश्य है, जिन्हें साधारण पशु समझना वेद के साथ घोर अन्याय होगा। उदाहरण के लिये ऋ० १।१६२ में अश्वमेध के अश्व का वर्णन ले लीजिये, यहाँ इसे पहिले ही मन्त्र में "देवजात" कहा है। इससे स्पष्ट है कि यह 'पशुजात' नहीं है, देवजात है। फिर १६वें मन्त्र में उसका विशेषण "त्वष्टा" दिया है। फिर ऋ० १।१६३ सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही उसका समुद्र से पैदा होना और जल से पैदा होना लिखा है। बाज पक्षी के समान उसके दो पङ्खों का वर्णन भी किया गया है। फिर दूसरे मन्त्र में उसका अलौकिकत्व तो और भी स्पष्ट है। इन्द्र इसका सवार है, यम दाता है, अर्थात यम ने इन्द्र को दिया है, त्रित जोतनेवाला है, गन्धर्व लगाम पकड़नेवाला है, वसु इस घोड़े के बनानेवाले हैं। और यदि सायण का ही अर्थ ठीक मान लिया जाये तो यह सूर्य में से घड़कर बनाया गया है। क्या अब भी यह साधारण घोड़ा रहा? फिर और लीजिये। हे अश्व! तू ही यम है, तू ही आदित्य है, तू ही त्रित है (मन्त्र ३)। और लीजिये, तीन तेरे द्युलोक में बन्धन हैं, तीन जल के ऊपर और तीन समुद्र के गर्भ में। अब तो और भी स्पष्ट कर दिया गया है कि तेरे हिरण्य के सींग हैं और लोहे के पैर हैं। सामान्य घोड़े में सींग आदि कहीं नहीं होते। इसलिये अश्व शब्द के आते ही उसका घोड़ा अर्थ करना

ठीक नहीं। जिसके सींग हों, पङ्ख हों, और जो आकाश में समुद्र के तल पर और समुद्र के गर्भ में तीनों स्थानों पर चलता हो, और जिसके सींग और पैर हिरण्य और लोहे के बने हों, वह किस प्रकार घोड़ा हो सकता है। यह तो हुआ साधारण अश्व का वर्णन। अब इस वर्णन से इन्द्र के हरी अर्थात् घोड़ों पर क्या प्रकाश पड़ता है, यह ऋ० १।१६२ सूक्त के २१वें मन्त्र में स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है। वहाँ आता कि "हरी त युञ्जा" अर्थात् तेरे रथ में इन्द्र के हरी जोते जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र के हरी भी साधारण घोड़े नहीं हैं। क्योंकि जिस अश्व के रथ में ये हरी जोते जाते हैं, जब वह अश्व ही अलौकिक है, तब उसी रथ में जुतनेवाले ये हरी भी सामान्य घोड़े कैसे हो सकते हैं? यह हमारी केवल कल्पना ही नहीं है। अपितु 'विपक्षसा' ऋ० १।६।२ यह विशेषण साफ पुकार कर कह रहा है कि इन्द्र के घोड़े भी सामान्य अश्व नहीं हैं क्योंकि उनके भी विविध प्रकार के पङ्ख हैं। और उन्हें "ब्रह्मयुजा" कहा है। अन्यथा पशु अश्व को वेद में 'ब्रह्मयुजा' कैसे कहा जा सकता था। ऊपर के प्रसंग से यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्र के ये घोड़े साधारण घोड़े नहीं हैं। लोह-मय पैरों के वर्णन से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, कि यहाँ किसी यन्त्र का वर्णन है। फिर उसके आकाश में उड़ने से यह भी छिपा नहीं रहता कि वह यन्त्र कौन-सा है। इस यन्त्र को हम विशेष प्रकार का यान कह सकते हैं, जो कि आकाश, समुद्र और समुद्र के गर्भ में भी चलता हो। Airoplane, Ship, Sub-marine इन तीनों के इकट्ठे गुण रखनेवाला यदि कोई यान बन सके तो वह यह अश्व होगा। इसी में इन्द्र अर्थात् विद्युत सम्बन्धी हरी का योग होता है। इन सबका विशेष वर्णन त

इन सूक्तों के यन्त्र-शास्त्र सम्बन्धी अर्थों के दिखाने के सम्बन्ध में दिया जायगा। परन्तु यहाँ तो हम वह अर्थ दिखाते हैं जिसका ब्राह्मण-ग्रंथों में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जिस प्रकार विद्युत् रूप इन्द्र को ले जाने के लिये दो हरी हैं। इसी प्रकार राष्ट्र में इन्द्र अर्थात् राजा की शक्ति को हरण अर्थात् वहन करने के लिये लोगों तक पहुँचाने के लिये विज्ञान और कला नाम के जिन दो घोड़ों का प्रयोग किया जाता है, उनके विषय में ब्राह्मण-ग्रंथ इस प्रकार कहते हैं

ऐतरेय २।२४ और तै० १।६।३।६ में आता है कि "ऋक् सामे वा इन्द्रस्य हरी" अर्थात् ऋक् और साम इन्द्र के दो हरी हैं। श० ४।४।३।६ में भी "ऋक् सामे वै हरी" अर्थात् ऋक् और साम हरी हैं, ऐसा निर्देश मिलता है। इस प्रकार इन ब्राह्मण वचनों से यह स्पष्ट हो गया कि इन्द्र के दो हरी ऋक् और साम हैं! पशु नहीं। परन्तु ऋक् और साम क्या चीज हैं! इसका सामान्य उत्तर निम्न ब्राह्मण-वाक्य से हो जाता है, "ऋक् सामे वै सारस्वतावुत्सौ" तै० १।४।४।६ अर्थात् ऋक् और साम सरस्वती के दो फुव्वारे हैं। उत्स को शब्दरूपकल्पद्रुम में फुव्वारा कहा है। वहाँ आता है "अविच्छेदेन स्रवज्जलं यत्रस्थाने पतति निपत्य च बहुली भवति तत्रेत्याहुः" अर्थात् निरन्तर बहता हुआ जल नीचे गिर कर जब बहुत रूपों में फट जाता है, तब उसकी उत्स संज्ञा होती है। इसी प्रकार ऋक् और साम सरस्वती के दो फुव्वारे हैं, अर्थात् दो प्रकार की विद्याएँ हैं जो फुव्वारे की तरह फूटकर सारे राष्ट्र का सिंचन करती रहती हैं। इन दोनों हरी अर्थात् विद्याओं के सम्बन्ध में षड्विंश ब्राह्मण में कहा है कि "हरणशीलावाकर्षणवेगगुणौ पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी

ताभ्यामिदं सर्वं हरतीति।" षड्विंश, ब्रा०, प्रपाठक १ खं० १। अर्थात् इन्द्र के ये दो हरी सबका हरण करने वाले आकर्षण और वेग गुण अथवा पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष ही हैं—इन्हीं के द्वारा इन्द्र अर्थात् राजा सारे राष्ट्र का वहन करता है। इन ब्राह्मण वाक्यों से स्पष्ट पता चल जाता है कि इन्द्र के ये दो हरी सामान्य पशु जाति के नहीं हैं। तै० १।४।४।६ में वर्णित सरस्वती अर्थात् विद्या के दो फुव्वारे हैं, जिनमें एक के अन्दर आकर्षण गुण है और दूसरे में वेग गुण है। इन दो गुणों वाली विद्याओं को विज्ञान और कला कह सकते हैं। यजुर्वेद ४।६ का प्रमाण इनके स्वरूप-निश्चय में बहुत बड़ा सहायक है। वहाँ आता है कि "ऋक् सामयोः शिल्पे स्थः" अर्थात् हे शिल्पे तुम दोनों ऋक् और साम में हो। इससे स्पष्ट पता चल जाता है कि ऋक् और साम का दो प्रकार के शिल्पों के साथ बहुत घना सम्बन्ध है।

शिल्प बहुत विस्तृत शब्द है। इसमें कई विद्याओं का समावेश हो जाता है। परन्तु हमने ऋक् और साम के आधार पर अथवा ब्राह्मणों में वर्णित आकर्षण और वेगगुण के आधार पर दो विभाग करने हैं। वे दो विभाग निम्न हो सकते हैं, एक विज्ञान और दूसरी कला। ये दोनों विज्ञान और कला शिल्प के अन्दर समाविष्ट हो जाते हैं। जैसा कि अमरकोष में कहा है "मोक्षे धी र्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः" मोक्ष में धी ज्ञान कहलाती है, और शिल्प तथा शास्त्र में विज्ञान कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान शिल्प में आ जाता है। और अमरकोश में 'कलादिकं कर्म' अर्थात् कलादि कर्मों का भी शिल्प में परिगणन किया गया है। इसलिये शिल्प के ये दो विभाग विज्ञान और

कला, वेद में ऋक् और साम नाम से पढ़े गये हैं। विज्ञान के अन्दर वेगगुण है और कला में आकर्षण गुण है।

कलाओं के सम्बन्ध में शब्दरूपकल्पद्रुम में लिखा है कि "वात्स्यायनोक्तनृत्यगीतवाद्यादिचतुष्षष्टिः बाह्यक्रियाः तथा आलिंगनचुम्बनादिचतुष्षष्टि आभ्यन्तरक्रियाः कलाः। अर्थात् नृत्य, गीत, वादित्रादिकों के चौंसठ भेद तथा आलिंगन चुम्बनादि आभ्यन्तर क्रियाओं के चौंसठ भेद कला में आ जाते हैं। और आगे भी लिखा है कि "आदिना स्वर्णकारादिकर्मग्रहः" अर्थात् आदि शब्द से स्वर्णकार, चित्रकार आदि का ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् चौंसठ प्रकार की कलाएँ शिल्प में आ जाती हैं। शिल्प का यह नृत्य, गीत, वादित्र आदि कलारूपी हिस्सा मनुष्यों के मनों को आकर्षित करनेवाला होता है। मनों को आकर्षित करनेवाले शिल्प के इस कलारूपी हिस्से को वेद में साम नाम से याद किया गया है। इसलिये ऋक् और साम को आजकल की भाषा में विज्ञान और कला कह सकते हैं। ये ही दो विज्ञान और कला इन्द्र अर्थात् राजा के वहन करनेवाले हैं।

कई यह शंका कर सकते हैं कि ऋक् और साम यह दोनों शब्द ऋग्वेद और सामवेद के सूचक हैं, और किसी के नहीं।

इस पर हमारा कथन यह है कि ये दोनों स्वतन्त्र शब्द हैं। क्योंकि ऋक् और साम शब्द वेदों के लिये ही नहीं अपितु अन्य अनेक पदार्थों के लिये भी इनका प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिये श० ७।५।२।१२ का प्रमाण द्रष्टव्य है। वहाँ आता है कि "प्राणो वा ऋक् प्राणेन ह्यर्चति" यहाँ प्राण को ऋक् माना गया है। कौ० ७।१० में "अमृतं वा ऋक्" अमृत को

ऋक् माना गया है। श० ७।५।२।२५ में "अस्थि वा ऋक्" अस्थि को ऋक् कहा है। इसी प्रकार साम को "प्राणो वै साम" श० १४।८।१४।३। प्राण माना है। "तस्माद्वायुरेव साम" जै० उ० ३।१।१२।। अर्थात् वायु ही साम है। इस प्रकार साम शब्द भी कई पदार्थों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इसलिये यह कहना कि ऋक् और साम शब्द ऋग्वेद और सामवेद के ही सूचक हैं— ठीक नहीं। हां! इतना अवश्य है कि इन दोनों शब्दों का प्रयोग दोनों वेदों के लिये भी हुवा है। और इन दोनों वेदों के लिये इन ऋक् और साम शब्दों का प्रयोग भी यही दर्शाता है कि इन वेदों में भी ये नाम चरितार्थ हो जाते हैं। अब हम यह दिखाना चाहते हैं कि ऋक् और साम शब्द ऋग्वेद और साम-वेद इन दोनों वेदों में कैसे सार्थक हो जाते हैं।

ऋग्वेद—

ऋक् शब्द की ऋग्वेद में सार्थकता दिखाने के लिये पहिले हमें ऋक् शब्द के धात्वर्थ को भी देख लेना चाहिये। ऋक् शब्द स्तुत्यर्थक ऋच् धातु से क्विप प्रत्यय होने से बनता है। जिसका अर्थ है "ऋचन्ति स्तुवन्ति यया सा ऋक्" अर्थात् जिससे पदार्थ की स्तुति अर्थात् गुणवर्णन किया जाये वह ऋक् कहलाती है। क्योंकि ऋग्वेद ब्रह्माण्ड में स्थित सब भूतों व पदार्थों का वर्णन करता है, इसलिये इसे ऋग्वेद कहते हैं। आधु-निक भाषा में विज्ञान का भी यही लक्षण किया गया है। उसमें भी सब पदार्थों का वर्णन किया होता है। "Science may be defined as ordered knowledge of natural phenomena and of the relations between them."

(Encyclopaedia britannica, science)

अर्थात् विज्ञान प्राकृतिक पदार्थ और उनके क्रमबद्ध ज्ञान को कहते हैं।

हमारे ऋषि महर्षियों की भी वेद के सम्बन्ध में यही आस्था है कि वेद भूतों का क्रमिक रूप में वर्णन करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ऋक् के सम्बन्ध में कहा गया है कि– "इममेव लोकं (पृथिवीं) ऋचा जयति" श. ४।६।७।२।। अर्थात् इस पृथिवी को ऋचा से ही जीतता है। इसका तात्पर्य यही है कि ऋग्वेद से पदार्थ-विद्या का ज्ञान प्राप्त कर उसको वश में करना, जिस प्रकार कि आजकल वैज्ञानिकों ने अग्नि विद्युत् आदि भौतिक तत्वों व पदार्थों को वश में कर रखा है। कौ० ११।१ में भी यही बात कही गई है। वहाँ आता है कि "ऋक् संमिता वा इमे लोकाः" अर्थात् यह सब लोक ऋक् से भली प्रकार निर्मित हैं और मपे हुए हैं। इस प्रकार ऋक् शब्द पदार्थ विद्या, विज्ञान का बोधक है, क्योंकि ऋग्वेद भी पदार्थ विद्या का ख़ज़ाना है। इसलिये उसे भी ऋक् शब्द से कह दिया गया है।

साम—

साम शब्द भी बहुत विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त होता है। परन्तु साम शब्द मुख्यतया संगीत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शब्दरूपकल्पद्रुम में साम का अर्थ दे रक्खा है कि "स्यति छिनत्ति दुःखं गेयत्वात्" अर्थात् गान के योग्य होने से जो दुःख को दूर करता है। इसका तात्पर्य यह है कि गान से दुःख दूर किये जाते हैं। संगीत शरीर और मन में समता तथा शान्ति पैदा करनेवाला है, इसलिये संगीत को साम कहते हैं। सामवेद का नाम भी साम इसलिये पड़ा क्योंकि यह गाया जाता है। क्योंकि संगीत समता तथा शान्ति पैदा करनेवाला

है और मनुष्यों के मनों को आकर्षित करनेवाला है। इसलिये वेदों में आकर्षित करनेवाली तथा समता और शान्ति पैदा करनेवाली विद्याओं को साम नाम से कहा गया है। आज कल की भाषा में इन विद्याओं को कला कहते हैं। कलाएँ मनों को आकर्षित करती हैं। इस प्रकार ऋक् और साम वेगगुण तथा आकर्षणगुण को धारण करनेवाली विज्ञान और कला नाम की दो विद्याएँ हैं।

इन दोनों विद्याओं का तक्षण तथा प्रसार इन्द्र के अधीन रहते हुए ऋभु लोग करते हैं। राष्ट्रिय दृष्टि से इन्द्र केन्द्रग-शक्ति है, जिसे हम राजा या सम्राट् कह सकते हैं। राजा राष्ट्र के अन्दर विज्ञान के द्वारा राष्ट्रोन्नति तथा राष्ट्र-रक्षा के साधनों का निस्र्माण करता है, और कला के द्वारा प्रजा के मनों पर नियन्त्रण रखता है। जिस राष्ट्र में ये दोनों विद्याएँ उन्नत हों, वही राष्ट्र दिन-दूनी रात-चौगुनी तरक्की करता है। और जिस राष्ट्र में कलाएँ तो उन्नति की चरम-सीमा पर पहुँची हुई हों, परन्तु विज्ञान के द्वारा राष्ट्र-रक्षा के साधनों का निर्माण न हुआ हो, तो अपने राजा के अधीन प्रसन्न तथा खुशहाल रहती हुई भी प्रजाएँ राष्ट्र की रक्षा नहीं कर सकतीं। विनाशक साधनों से सुसज्जित शत्रु उस राष्ट्र का विनाश कर देगा। और जिस राष्ट्र में विज्ञान के द्वारा राष्ट्र-रक्षा के साधनों की खूब उन्नति हो परन्तु प्रजाएँ खुश न हों तो वह राष्ट्र भी सुरक्षित नहीं रह सकता। ये दोनों विद्याएँ राष्ट्ररूपी रथ का वहन करनेवाली हैं, इसलिये इन्हें हरी कहा गया है। राष्ट्र-निर्माण तथा राष्ट्र-रक्षा में ये दोनों विद्याएँ मूल कारण हैं। इसलिये इनका सीधा नियन्त्रण राजा को ही करना चाहिये। और इन्हें "वचोयुजा" राजा का कहना माननेवाला बनाना चाहिये।

महर्षि दयानन्द ने भी ऋ० १।२०२ में हरी का अर्थ "गमनधारणगुणौ" ऐसा किया है। इस मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं कि "जो विद्वान् पदार्थों के संयोग वा वियोग से धारण, आकर्षण वा वेगादिगुणों का जान कर क्रियाओं से शिल्प-व्यवहार आदि यज्ञ को सिद्ध करते हैं वे ही उत्तम २ ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं"। इस प्रकार स्वामी जी ने हरी से तात्पर्य शिल्प-व्यवहार से लिया है। ऋ० ४।३३।१० के भावार्थ में भी उन्होंने इसी बात को स्पष्ट किया है। वहाँ आता है, "हे विद्वानो! आप लोग सृष्टि के क्रम से पदार्थ-विद्याओं को प्राप्त होकर अन्य जनों को बोध कराय के अपने सदृश करके धनाढ्य करो" यहाँ स्वामी जी ने हरी से तात्पर्य पदार्थ-विद्या लिया है। इस प्रकार स्वामी जी का भी हरी से तात्पर्य पदार्थ-विद्या अर्थात् विज्ञान और कला से है।

हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि इन्द्र के हरी ब्राह्मणों के अनुसार सामान्य घोड़े नहीं हैं। अब हम वेद मन्त्रों के आधार पर भी यह सिद्ध करना चाहते हैं, कि हरी का सामान्य घोड़ा अर्थ करने पर मन्त्रों की उत्तम संगति नहीं लगती। विज्ञान और कला अर्थ करने पर सुन्दर अर्थ हो जाता है। ऋ० ८।१।२४ में मन्त्र आता है कि—

"आत्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये। ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये॥"

अर्थात् हे इन्द्र! तुझको ब्रह्मयुज तथा केशवाले, रथ में जुते हुए हज़ारों घोड़े सोमपान के लिये ले जावें। सैकड़ों हज़ारों घोड़े इन्द्र के रथ में जुड़े हुए हों और

उसको वे सोमपान के लिये ले जा रहे हों यह एक अतिविचित्र कल्पना प्रतीत होती है। ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार हरी का अर्थ विज्ञान और कला करने पर इस विचित्र कल्पना का कोई स्थान नहीं रहता और इस मन्त्र की व्याख्या भी बहुत सुन्दररूप में हो जाती है। इन्द्र के वास्तव में दो ही हरी हैं जिन्हें विज्ञान और कला कहते हैं। परन्तु ये ही दोनों नये नये विज्ञानों तथा नयी नयी कलाओं में हज़ारों रूपों में विभक्त हो सकते हैं। इस प्रकार हरी का अर्थ विज्ञान और कला मानने से तो मन्त्र की उत्तम संगति लगती है। परन्तु हरी को सामान्य पशु जाति का घोड़ा मानने पर नहीं लगती। और इन्द्र के तो दो ही हरि माने गये हैं। निघण्टु में भी दो का ही वर्णन है, फिर सैकड़ों हज़ारों घोड़ों का उनके साथ कैसे सामञ्जस्य हो सकता है? सायण ने इसी समस्या का हल इस प्रकार दिया है। ऋ० २।१६।४. ५, ६ में जो इन्द्र के दो से लेकर सौ तक के घोड़ों का वर्णन आता है, वहाँ ४र्थ मन्त्र की व्याख्या में सायण ने लिखा है कि "यद्यपीन्द्रस्य द्वावेव हरी तथापि तयोर्विभूतिभेदान्नानात्वमतोऽश्वबहुत्वमविरुद्धम्" अर्थात् यद्यपि इन्द्र के दो ही हरी हैं, तब भी विभूतिभेद से उनके नाना रूप हो जाते हैं। इसलिये अश्वों का बहुत होना दो के विरोध में नहीं जाता। यह वाक्य ही स्वयं स्पष्ट कर रहा है कि यहाँ सामान्य घोड़ों का वर्णन नहीं। सामान्य पशु जाति के घोड़ों का विभूतिभेद तो उसकी टट्टी-पेशाब आदि ही होगीं, और क्या हो सकता है? और यदि 'विभूतिभेद' से नानारूप रंगों के तथा नानाशक्ति रखनेवाले सामान्य घोड़े ही लिये जायें, तो भी मन्त्र का सुन्दर समन्वय नहीं होता, क्यों कि रथ में हज़ारों

घोड़े जोड़ कर इन्द्र का बाहिर जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। परन्तु हरी का अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार ऋक् और साम अर्थात् विज्ञान और कला मानने पर बहुत ही सुन्दर रूप में इस वाक्य की सङ्गति लग जाती है। इसलिये सायण के विभूति-भेद से असली तत्व यही निकलता है कि यहाँ हरी सामान्य पशु जाति के घोड़े नहीं हैं।

हरी के ब्रह्मयुजा, सखायौ और विपक्षसा ये विशेषण इस बात को और भी पुष्ट करते हैं कि ये सामान्य घोड़े नहीं हैं।

यदि कोई 'ब्रह्मयुजा' का अर्थ यह करे कि वे घोड़े मन्त्र बोल कर जोड़े जाते हैं तो यह ठीक नहीं, क्यों कि ऋ० ३।३५।४ में "ब्रह्मणाते ब्रह्मयुजा युनज्मि" अर्थात् मन्त्र बोल कर जोड़े हुए तेरे घोड़ों को फिर दुबारा मन्त्र बोल कर जोड़ता हूँ—इस प्रकार दो बार मन्त्र बोल कर जोड़ने का क्या तात्पर्य है? वास्तव में इसका तात्पर्य यह है कि दो हरी अर्थात् विज्ञान और कला जो कि विविध प्रकार के ज्ञानों से जुड़े हुए हैं उन्हें और भी नये नये ज्ञानों से युक्त करता हूँ। अर्थात् नये नये अनुसन्धान करके, नया नया ज्ञान पैदा करके विज्ञान और कला के भण्डार को और भी भरता हूँ। इसलिये अन्य स्थलों पर आये ब्रह्म शब्द का हमें ज्ञान अर्थ करना चाहिये। उव्वट तथा महीधर ने अपने यजुर्वेदभाष्य में ब्रह्म का अर्थ त्रयीविद्या वेदविद्या ही किया है। वहाँ आता है कि "ते तव हरी हरितवर्णावश्वौ ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन—युक्तौ" इस प्रकार ब्रह्म का अर्थ त्रयीविद्या अर्थात् ज्ञान अर्थ किया है, चाहे पीछे उसने इसका तात्पर्य कुछ ही निकाल लिया हो। इसी प्रकार सामान्य घोड़ों के लिये सखा शब्द का प्रयोग असंगत है। और "विपक्षसा" अर्थात् विविध

प्रकार के पंखों वाले—यह विशेषण तो और भी सिद्ध करता है कि इन्द्र के दो हरी सामान्य घोड़े नहीं हैं।

कई स्थलों पर हरी का विशेषण "इन्द्रवाहौ" अर्थात् इन्द्र का वहन करनेवाले आया है। उदाहरण के तौर पर दो एक स्थल हम यहाँ दिये देते हैं। ऋ० ४।३५।५ और ८।९८।९ में हरी को "इन्द्रवाहौ" कहा गया है। इसका तात्पर्य है कि वे हरी सायण के कथनानुसार इन्द्र के ही वहन करनेवाले हैं। क्योंकि जिस प्रकार उल्लू लक्ष्मी का वाहन है, बैल महादेव जी का वाहन है, इसी प्रकार ये दो हरी इन्द्र के वाहन हैं। सायण के कथनानुसार तो इन्हें इन्द्र के ही वाहन होना चाहिये। परन्तु ऋ० १।६।२ में इन्हें "नृवाहसा" अर्थात् मनुष्यमात्र का वहन करनेवाले ऐसा भी कहा है। यदि ये केवल इन्द्र के ही वाहन हों तो "नृवाहसा" विशेषण असंगत हो जाता है। परन्तु इन्द्र का अर्थ राजा करने पर और हरी का अर्थ ऋक् और साम अर्थात् विज्ञान और कला करने पर इन दोनों में सुन्दर समन्वय हो जाता है। इन्द्र सारी जनता का प्रतिनिधि है। इसलिये इन्द्र के वहन करनेवाले हरी मनुष्यमात्र के वहन करनेवाले ही हैं। इसलिये 'इन्द्रवाहौ' और 'नृवाहसा' में कोई विरोध नहीं आता।

हरी का अर्थ विज्ञान और कला करने से मन्त्रों की संगति तथा समन्वय उत्तम हो जाता है। उदाहरण के तौर पर दो एक मन्त्र हम यहाँ दिये देते हैं।

ऋ० १।५।४ में एक मन्त्र आता है—

"यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत॥"

अर्थात्—जिस राजा के हरी (विज्ञान और कला) उत्तम

स्थिति में हैं उनको शत्रु युद्धों में नहीं दबा सकते। इसलिये राजा की स्तुति करो।

इस प्रकार हरी को विज्ञान और कला मानने पर मन्त्र की उत्तम व्याख्या हो जाती है। परन्तु यदि हरी को सामान्य पशु जाति के दो घोड़े मान कर अर्थ करें तो यह बात बहुत विचित्र तथा उपहसनीय प्रतीत होती है कि युद्धों में जय या पराजय इन्द्र के दो घोड़ों पर ही आश्रित हो।

ऋ० १०।९६।१ में उन्हें कहा है कि 'प्रते महे विदथे शंसिषं हरी" अर्थात् हे इन्द्र! महान् ज्ञानगोष्ठियों में मैं तेरे हरी की प्रशंसा करता हूँ। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा में दो सामान्य घोड़ों की प्रशंसा अत्यन्त असंगत बात है। ज्ञान गोष्ठियों में तो ज्ञान विज्ञान की ही बातें होनी चाहियें। कोई यह पूछ सकता है कि यदि इन्द्र के हरी सामान्य घोड़े नहीं हैं तो उनके "केशिना" "कक्ष्यप्रा" आदि विशेषण कैसे सङ्गत होंगे। इस पर हमारा निवेदन यह है कि जब हमने ब्राह्मणों के इतने प्रबल प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिया कि हरी ऋक् और साम को कहते हैं, वे सामान्य घोड़े नहीं हैं तो "केशिना" आदि शब्दों के भी अर्थ यौगिक दृष्टि से दूसरे हो सकते हैं। जैसे "केशिनौ" शब्द काशृ दीप्तौ धातु से निष्पन्न होता है। इसलिये "केशिनौ" का अर्थ दीप्तिवाले ऐसा किया जा सकता है।

ऋभु-सूक्तों में आये हरी के विशेषण आदि भी यही सिद्ध करते हैं कि वे सामान्य घोड़े नहीं हैं। जैसा कि—

शच्या हरी धनुतरावतष्ट। ऋ० ४।३५।५

मनसा ततक्षुः। ऋ० १।२०।२

येन मनसा निरतक्षत । ऋ० ३।६०।२

ये हरी मेधयोक्था । ऋ० ।४।३३।१०

अर्थात्—"ऋभुओं ने इन्द्र के हरी मन से घढ़े।" "जो हरी मेधा-बुद्धि से कहे गये" "जो हरी शक्ति अथवा वाणी से घढ़े गये"। इत्यादि प्रमाण यही सिद्ध करते हैं कि ये सामान्य घोड़े नहीं हैं। परन्तु विज्ञान और कला हैं जिनमें कि मेधा शक्ति और मनन शक्ति आदि काम देते हैं।

यदि यह सामान्य घोड़े हों तो एक सवाल पैदा होता है कि क्या वेद राजा का यही कर्तव्य बताता है कि वह दो घोड़ों को रथ में जोता करे। सायण ने तो "इन्द्रो हरी युयुजे" इसका अर्थ कर दिया कि "इन्द्रः एतन्नामानावश्वौ रथे योजितवान्" अर्थात् इन्द्र ने हरी नाम के अश्वों को रथ में जोड़ा। कई यह कह सकते हैं कि इसका यह मतलब नहीं कि राजा ने स्वयं अपने हाथ से रथ में दो घोड़ों को जोड़ा, इसका तो मतलब इतना ही है कि राष्ट्र के घोड़े सीधे राजा के नियन्त्रण में होने चाहियें। यह भी ठीक नहीं क्योंकि जिस प्रकार हरी इन्द्र के नियन्त्रण में रह सकते हैं। उसी प्रकार रथ और विश्वरूपा धेनु भी उसके नियन्त्रण में रह सकती है। क्योंकि वह तो राजा है, और पौराणिकों के अनुसार तो देवताओं का राजा है। राजा के नियन्त्रण में तो राष्ट्र की प्रत्येक वस्तु रहती है। यदि कोई यह कहे कि राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से घोड़ों का बहुत महत्व है, इसलिये घोड़ों का सीधा नियन्त्रण राजा को ही करना चाहिये। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि राष्ट्र की रक्षा में धन-शक्ति, चर-शक्ति, जन-शक्ति आदि सभी शक्तियां बहुत महत्व रखती हैं।

कौन छोटी है, कौन बड़ी है इसका मिलान करना सम्भव नहीं। इसलिये ब्राह्मणों के कथनानुसार इन्द्र के हरी आकर्षण और वेग-गुण वाली दो विद्याएँ ही हो सकती हैं, और वे विज्ञान और कला हैं। राजा विज्ञान के द्वारा अस्त्र-शस्त्र तथा यानों का निर्माण कर राष्ट्र में गति पैदा करता है, और कलाओं के द्वारा प्रजा के मनों पर नियन्त्रण रखता है। इन्हीं के द्वारा इन्द्र अर्थात् राजा राष्ट्र-रूपी-रथ का वहन करता है। इसलिये हरी विज्ञान और कला है सामान्य पशु जाति के घोड़े नहीं।

१२. ऋभु-सूक्तों में रथ

ऋभुओं के अवदानों में एक अवदान यह भी है कि वे अश्वियों के लिये रथ तय्यार करते हैं। ऋ० १।२०।३ में आता है कि "तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्" अर्थात् ऋभुओं ने नासत्यों (अश्विनौ) के लिये सुखप्रद तथा सुखपूर्वक चलनेवाला रथ बनाया। इससे पहले कि हम रथ के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट करें, अश्विनौ के ऊपर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। इससे रथ का स्वरूप भी स्पष्ट हो जायेगा और अश्वियों का रथ के साथ क्या सम्बन्ध है? यह भी पता चल जायेगा। अश्वी शब्द अशूङ् व्याप्तौ धातु से बनता है, "व्यश्नुवाते" अर्थात् जो व्याप्त करनेवाले हैं।

अश्व शब्द जिसका अर्थ घोड़ा है, वह भी इसी धातु से बनता है; क्योंकि घोड़ा आगे मार्ग को व्याप्त करता चला जाता है, इसलिये उसे अश्व कहते हैं। इसी प्रकार अश्विनौ भी व्युत्पत्ति के आधार पर वे दो चीज़ें होनी चाहियें, जो अपने क्षेत्र में व्यापनशील हों। और अश्विनौ के सदा द्विवचनान्त

होने से यह भी ध्वनि निकलती है कि वे सदा साथ साथ रहते हैं। श० ५।३।१।८ में कहा भी है कि "सयोनी वा ऽश्विनौ" अर्थात्, अश्विनौ का उत्पत्ति-स्थान भी एक ही है। और वेदों में भी अश्वियों के सम्बन्ध में जिस बात का वर्णन किया गया है, वहाँ दोनों को ही निर्देश करके कहा गया है। इसलिये व्यापनशील तथा सयोनी जितनी भी युगल चीजें हैं, जैसे दोनों नासिका-बिन्दु, श्रोत्र, चक्षु आदि—ये सब अश्विनौ कहे जा सकते हैं। ब्राह्मणों में इनको अश्विनौ कहा भी गया है। अश्विनौ के सम्बन्ध में इन सब पर यहाँ विचार कर सकना कठिन है। यहाँ तो केवल अश्वियों का रथ के साथ क्या सम्बन्ध है? इसी पर विचार किया जावेगा।

वेदों में अश्वियों का विशेष सम्बन्ध रथ से बतलाया गया है। ऋभु-सूक्तों में भी जहाँ ऋभुओं ने इन्द्र के लिये हरी तथा बृहस्पति के लिये विश्वरूपा धेनु का तक्षण किया वहाँ अश्विनौ के लिये रथ का तक्षण बताया है। निघण्टु में भी जहाँ इन्द्र, अग्नि, आदियों की विशेष विशेष चीजों की ओर निर्देश किया गया है, वहाँ अश्वियों की विशेष चीज रथ को बताया गया है। इससे यह सिद्ध है कि वेद में जितने भी प्रकार के यान हैं, चाहे वे समुद्र में तैरनेवाले हों, चाहे भूतल पर और चाहे वे आकाश मार्ग से चलनेवाले हों वे सब रथ शब्द से द्योतित होते हैं। इन सब प्रकार के रथों का सम्बन्ध अश्विनौ से है। इसलिये इस राष्ट्रिय क्षेत्र में जहाँ कि अश्विनौ का रथ के साथ सम्बन्ध है! वहाँ वे क्या हो सकते हैं यह विचारणीय है।

वेद में लगभग ४८ स्थानों पर उन्हें 'नरौ' अर्थात् मनुष्य कहा गया है। 'नरौ' का अर्थ यदि 'नेतारौ' अर्थात् रथ के द्वारा

ले जाने वाले किया जाये तो भी कोई आपत्ति नहीं। क्यों कि हमने यही सिद्ध करना है कि वे रथ के द्वारा मनुष्य आदियों का वहन करनेवाले हैं।

ऋ० १।१८२।२ में उन्हें "रथ्या" और 'रथीतमा' कहा है। सायण ने 'रथ्या' का अर्थ दिया है, 'रथार्हौ, रथवन्तौ वा' अर्थात् रथ के योग्य या रथ के स्वामी। रथीतमा का अर्थ किया है 'यथा रथिनो नेतारस्तेषां श्रेष्ठौ रथीः' अर्थात् रथ वालों में श्रेष्ठ रथवाले। इसी प्रकार ऋ० १।२२।२ में भी उन्हें 'रथीतमा' कहा गया है। ऋ० ८।२२।१४ में उन्हें 'रुद्रवर्तनी' कहा गया है। रुद्र शब्द सेनापति का सूचक है (देखो पंडित बुद्धदेव जी विद्यालंकार कृत मरुत् सूक्त)। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सेनापति के लिये मार्ग बनानेवाले। यही ध्वनि "सेनाजुवा" शब्द से निकल रही है। अर्थात् जो कि सेना को गतियुक्त करते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं। यही बात "सिन्धुवाहसा" अर्थात् सिन्धु (सेना) के वहन करने वाले—इस विशेषण से प्रतीत होती है। इस प्रकार अश्विनौ सेनाओं को इधर उधर से लाने तथा ले जाने का काम करते हैं।

ऋ० ७।७३।५ में कहा गया है कि तुम चारों ओर से ऐश्वर्य को ढो ढो कर लाओ। मन्त्र इस प्रकार है।

आपश्चातान्नासत्या पुरस्तादश्विना यातमधरादुदक्तात् ।
आ विश्वतः पाञ्चजन्येन राया यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

अर्थात् हे नासत्यो ! तुम पीछे से, आगे से, नीचे से, ऊपर से सब ओर से पञ्चजनों के हितकारी ऐश्वर्य को लेकर आओ।

इस प्रकार अश्वियों को सबसे श्रेष्ठ रथी या रथ का स्वामी

कहना, सेनाओं को इधर उधर ले जाना, और सब ओर से रथों में ढो-ढोकर ऐश्वर्य लाना तथा ले जाना इस बात को सिद्ध करता है कि ये दोनों आयात तथा निर्यात के साधनों के अध्यक्ष हैं। ऋ० ५।७८।१,२,३ में स्पष्ट कहा है कि "हंसाविव पततमासुताँ उप" अर्थात् उत्पन्न किये हुए अन्नादिकों पर हंसों की तरह श्रेणीबद्ध यानों से आकाश में उड़ते हुए आओ।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से तथा विशेषणों से यह स्पष्ट है कि—'अश्विनौ' आकाश, भूतल तथा समुद्र में चलने वाले सभी प्रकार के यानों के स्वामी हैं। सारे यातायात के साधन उन्हीं के अधीन हैं। इसलिये ये दोनों राष्ट्र में सम्पूर्ण यातायात के अध्यक्ष कहे जा सकते हैं।

जब हमें यह पता चल गया कि राष्ट्र में यातायात (Traffic) के ये दो अश्वी अध्यक्ष हैं, तो फिर ये अश्विनौ दो क्यों हैं ! इसका तात्पर्य भी आसानी से समझ में आ जाता है। वह यह है कि यातायात (Traffic) के दो विभाग होते हैं एक आयात (Import) दूसरा निर्यात (Export)। जहाँ भी यातायात (Traffic) है वहाँ ये दो विभाग अवश्य होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र उन चीजों को जो उसके राज्य में नहीं होतीं बाहिर से मँगाता है, और जो उसके राज्य में बहुतायत में पैदा होती हैं, बाहिर भेजता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र में आयात तथा निर्यात सदा साथ साथ रहते हैं। इन आयात तथा निर्यात को नियन्त्रण में रखनेवाले, आवश्यक्ता पड़ने पर सेनाओं के लिये रास्ते बनानेवाले, दो विभागों के ये दो अध्यक्ष हैं, इसलिये अश्विनौ सदा द्विवचनान्त में प्रयुक्त होते हैं। इनके 'सयोनी' अर्थात् एक ही उत्पत्ति स्थान होने का भाव भी इसी से स्पष्ट

समझ में आ जाता है। यातायात (Traffic) एक ही है पर उसके आयात और निर्यात ये दो पार्श्व हैं। इसलिये अश्विनौ को सयोनी कहा जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों में भी जहाँ आयात और निर्यात होगा वहाँ ये अध्यक्ष होंगे। शरीर में भी ये दोनों कार्य आयात और निर्यात नाड़ी-संस्थान (Nervous System) और रुधिराभिसरणसंस्थान (Circulating System) के रूप में होते रहते हैं।

इसलिये यहाँ भी इन दोनों प्रकार के आयात और निर्यातों में ये ही अध्यक्ष हैं। इस क्षेत्र में इन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों में वैद्य कहा गया है।

ऐ० १।१८ कौ० १८।१ में आता है "अश्विनौ वै देवानां भिषजौ" अर्थात् अश्वी देवताओं के वैद्य हैं।

हमारी इन्द्रियाँ बाहिर से ज्ञान ग्रहण करती हैं और नाड़ी-संस्थान (Nervous System) के द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचाती हैं। औरअन्दर से आज्ञा आती है और नाड़ी-संस्थान (Nervous System) के द्वारा इन्द्रियों को प्राप्त होती है। यहाँ भी ज्ञानको बाहिर से अन्दर ले जानेवाली नाड़ियाँ (Nerves) और हैं, और अन्दर से बाहिर को आज्ञा ले जानेवाली और हैं। दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। दोनों सारे शरीर में व्याप्त हैं। इसलिये इन्हें भी अश्विनौ कहा गया है। इसी प्रकार हृदय से अच्छे खून को सारे अङ्ग प्रत्यङ्गों तक पहुँचानेवाली Nerves और हैं और शरीर का रद्दी खून हृदय में लानेवाली और हैं। इस प्रकार इन दोनों के मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं और ये सारे शरीर-रूपी राष्ट्र में फैली हुई हैं। सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थ

रखने के लिये ये दोनों नाड़ियें वैद्य का भी काम देती हैं। सारे शरीर-रूपी राष्ट्र की आरोग्यता इन्हीं पर निर्भर है। शरीर का कोई अङ्ग बीमारी के कारण अवशिष्ट शरीर के साथ कार्य न करता हो तो वहाँ खून का प्रवाह पहुँचाकर उसको सारे शरीर के साथ जोड़ दिया जाता है। वह नीरोग हो जाता है। इसी प्रकार राष्ट्र में भी आयात-निर्यात के साधन यानादि के दोनों अध्यक्ष राष्ट्र के दो वैद्य हैं, जोकि राष्ट्र के टूटे हुए हिस्से को जोड़ते हैं। और राष्ट्र का जो हिस्सा आकालादि से रोगग्रस्त हो या विद्रोह-रूपी बीमारी से आक्रान्त हो उसे इन्हीं वैद्यों के द्वारा नीरोग तथा स्वस्थ किया जाता है। क्योंकि शरीर तथा राष्ट्र में ये दोनों वैद्य का काम करते हैं, इसलिये इन्हें वैद्य भी कहा गया है।

इस प्रकार हमने ऊपर यह बताने की कोशिश की कि अश्विनौ यातायात (Traffic) के अध्यक्ष हैं। यातायात में आयात और निर्यात ये दो विभाग होते हैं, इसलिये अश्विनौ भी दो हैं।

अब हम यह दिखायेंगे कि ऋभुओं ने अश्विनौ के लिये कैसे रथ तय्यार किये।

ऋ० ४।३३।१ में मन्त्र आता है कि—

"ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः।"

अर्थात्—ऋभु जोकि वायु से सञ्चालित रथ पर विराजमान हैं। अपनी-अपनी तरणियों के द्वारा द्युलोक के चारों ओर घूम आते हैं।

यहाँ ऋभुओं का एक विशेषण आया है "वातजूताः" अर्थात् वायु से सञ्चालित हवाई जहाज़ में बैठकर वे द्युलोक के

चारों ओर घूम आते हैं। वायु के समान गति वाले अथवा केवल वायु से चलनेवाले रथों का वेद में और भी कई स्थानों पर वर्णन आता है। ऋ० १।११८।१ में आता है कि—"आ वां रथो वातरंहाः" अर्थात् हे अश्वियो! वायु के समान गतिवाला अथवा वायु से चलनेवाला तुम्हारा रथ है।

और यह भी वर्णन आता है कि उनका रथ द्युलोक के चारों ओर घूमनेवाला है।

"तं वां रथं ....परिद्यामियानम्।" ऋ० १।१८१।१०

हे अश्वियो! तुम्हारा रथ द्युलोक में चारों ओर जाने वाला है।

ऋ० ३।५८।८ में आता है कि—

"रथो वामृतजा अद्रिजूतः परिद्यावापृथिवी याति सद्यः"

अर्थात्—तुम्हारा रथ द्यावापृथिवी के चारों ओर शीघ्रता से घूम आता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में यह स्पष्ट वर्णन किया गया है कि अश्वियों के रथ आकाश में उड़नेवाले हैं। केवल इतना ही नहीं सायण ने कई स्थानों पर स्पष्ट ही हवाई जहाज़ का वर्णन किया है।

ऋ० ४।४३।५ में वह लिखता है कि—

"उरू वां रथः परिनक्षति द्यामायत् समुद्रादभिवर्ततेवाम्"।

अर्थात्—"हे अश्विनौ वां रथो द्यां परि द्युलोकस्य परितः उरू प्रभूतं नक्षति गच्छति यद्यस्माद् आ अर्वाक् समुद्रात् समुद्रवण-साधनात् अन्तरिक्षाद्वां प्रत्यभिवर्तते आभिमुख्येन गच्छति।" अर्थात् हे अश्वियो! तुम्हारा रथ द्युलोक के चारों ओर थोड़ा

नहीं बहुत जाता है, और इस अन्तरिक्ष-रूपी समुद्र में से होता हुआ तुम्हारी ओर आता है। इस प्रकार सायण ने कितना स्पष्ट हवाई जहाज़ का वर्णन किया है।

ऋ० ८।२२।५ का भी सायणकृत अर्थ अवलोकनीय है—

रथो यो वां....परिद्यावापृथिवी भूषति श्रुतस्तेन नासत्या-गतम्।

अर्थात्—"हे अश्विनौ, वां युवयोर्योरथः श्रुतः सर्वत्र प्रसिद्ध सन् द्यावापृथिवी परिभूषति स्वबलेन परिभवति"। अर्थात् हे अश्वियो! तुम्हारा रथ तो द्युलोक और पृथिवीलोक को भी पराभव कर देता है।

इसी प्रकार ऋभुसूक्तों में आये रथ के वर्णन से यह स्पष्ट है कि ऋभुओं ने अश्वियों के लिये हवाई जहाज़ आदि सब तरह के यान बनाये।

ऋ० ४।३६।१ में वर्णन आता है कि—

"अनश्वो जातो अनभीशुः रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः"

अर्थात् ऋभुओं ने बिना घोड़े बिना लगाम तथा तीन चक्रों वाला रथ बनाया जो कि एक लोक से दूसरे लोक में परिवर्तित होता रहता है।

इस प्रकार इस मन्त्र में यह स्पष्ट वर्णन किया गया है कि ऋभुओं ने ऐसा रथ तय्यार किया जिसमें घोड़े और लगाम इत्यादि नहीं लगाने पड़ते। और वह एक लोक से दूसरे लोक में आता जाता रहता है।

ऋ० १।१२०।१० में भी बिना घोड़ोंवाले रथ का वर्णन

किया गया है। ऋ० १।८८।१ में तो विद्युत् से चलने वाले रथों का बहुत ही स्पष्ट वर्णन पाया जाता है।

वहाँ आता है कि—

"आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात"

अर्थात्—हे मरुतो ! तुम विद्युत् से चलने वाले रथों से आओ।

ऋ० ४।३६।१ मन्त्र में कहा गया है कि वह रथ तीन चक्रों वाला है। वे तीन चक्र कौन से हैं, यह अभी विचारणीय है।

१।३०।१९ मन्त्र में दो चक्रों का तो वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है—

"न्यघ्न्यस्य मूर्द्धनि चक्रं रथस्य येमथुः। परिद्यामन्यदीयते"

अर्थात्—एक चक्र तो रथ की मूर्धा के ऊपर स्थित है जो कि रथ का नियन्त्रण करता है, और दूसरा चक्र रथ को द्युलोक की ओर ले चलता है।

इस प्रकार इस मन्त्र में दो चक्रों का तो वर्णन कर दिया गया है, तीसरा चक्र विचारणीय है।

इसी प्रकार ऋभुओं ने कई तरह के रथ बनाये, और अश्वियों के सुपुर्द कर दिये। वे रथ "सुवृतम्" सुख पूर्वक चलने वाले या उत्तम रचना वाले हैं। 'अविह्वरन्तम्' और वे कुटिल गति वाले नहीं हैं। इस प्रकार सब प्रकार की सहूलियतों वाले तथा उत्तम रचना युक्त रथ ऋभु बनाते हैं, और राष्ट्र में यातायात के अध्यक्ष अश्वियों को दे देते हैं।

टिप्पणी—रथ के सम्बन्ध में "वैदिक रथ" नाम से एक विस्तृत विवेचना युक्त पुस्तिका तय्यार की हुई है, कुछ समय पश्चात् वह भी आपके सम्मुख प्रस्तुत की जायेगी।

१३. गौ माता

ऋभु सूक्तों में गौ का तक्षण-सम्बन्धी वर्णन आठ मन्त्रों में किया गया है। वह इस प्रकार है—

१. निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सम्वत्सेनासृजता मातरं पुनः। ऋ० १।११०।८

अर्थात्—ऋभुओं ने हल आदि चला कर पृथिवी का चर्म अर्थात् स्तर हटाया और उसे सुन्दररूप देकर वत्स अर्थात् बीज का उसके साथ संसर्ग करा दिया।

२. तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम्। ऋ० १।१११।१

अर्थात्—पृथिवी माता को बीजरूपी वत्स के साथ रहने योग्य (उर्वरा) बनाया।

३. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः। ऋ० १।१६१।७

अर्थात्—बुद्धिमत्ता-पूर्ण उपायों से पृथिवी को चर्मरहित किया।

४. यत्संवत्समृभवो गामरक्षन् यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्। यत्संवत्समभरन्भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥ ऋ० ।४।३३।४

अर्थात्—ऋभुओं ने एक वर्षतक तो उस मृत गौ की रक्षा की, और द्वितीय एक वर्ष तक उस गौ के मांस के टुकड़े टुकड़े किये। और फिर तृतीय एक वर्ष तक सौर्य-तेज आदि के द्वारा उस गौ के अवयवों में सामर्थ्य तथा शोभा पैदा की। इस प्रकार मृत गौ को पुनर्जीवन प्रदान करने के कारण वे अमर होगये।

५. यया धिया गामरिणीत चर्मणः। ऋ० ।३।६०।२

अर्थात्—ऋभुओं ने अपने जिस कला-कौशल तथा बुद्धि से पृथिवी को चर्म रहित किया।

६. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः। ऋ० ४।३६।४

अर्थात् बुद्धि तथा कार्य-कुशलता से ऋभुओं ने गौ को चर्म रहित किया।

७. श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्। आनिम्रुचः शकृदेको अपाभरत् किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतु॥ ऋ० १।१६१।१०

अर्थात्—सूखकर रक्तवर्ण हुई २ पृथिवी को एक आदमी पानी पहुँचाता है। और एक छेदक-साधन से उसके मांस (मिट्टी) को उत्तम रूप देता है। और एक उर्वरा होने तक उस में से मल आदि को दूर करता है। भला! पुत्रों के लिये पितर क्या प्राप्त करावें? अर्थात् ऋभु अपने विज्ञान के प्रभाव से सब प्रकार की साधनसामग्री तय्यार कर लेते हैं। इसलिये उन्हें पितर अर्थात् द्यावापृथिवी पर आश्रित नहीं होना पड़ता।

८. ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम्। ऋ० ४।३४।१०

अर्थात् जो ऋभु उत्तम पृथिवी वाले, पृथिवी से उत्तम अन्न वाले, उत्तम अन्न से बसाने तथा बहुतों को उत्तम वीर पुत्र रूपी ऐश्वर्य को धारण कराते हैं।

अब हम ऋभुसूक्तों में वर्णित गौ का राष्ट्रिय दृष्टि से वास्तविक स्वरूप जानने के लिये इन तीन क्षेत्रों के आधार पर विचार करते हैं। वे तीन क्षेत्र निम्न हैं—

१—आधिदैविक क्षेत्र
२—आध्यात्मिक क्षेत्र
३—अधिराष्ट्रिय क्षेत्र

आधिदैविक क्षेत्र—

आधिदैविक क्षेत्र में ऋभु आदित्य की रश्मियों का नाम है। इसलिये इस क्षेत्र में गौ का अर्थ पृथिवी करना होगा। पृथिवी को भी गौ कहते हैं, यह निघण्टु में परिगणित पृथिवी के नामों में देखा जा सकता है। ये आदित्य की रश्मियाँ पृथिवी का तक्षण करती रहती हैं। पृथिवी के जिस हिस्से पर ये पहुँचती हैं, वह हिस्सा उर्वरा रहता है, और उस हिस्से का स्वरूप तथा गुण भी बदल जाते हैं। और जिस हिस्से पर ये रश्मियाँ नहीं पहुँचतीं वह हिस्सा मृतप्राय हो जाता है, और उसके अन्दर उपज की शक्ति नहीं रहती। इसलिये मन्त्र में कहा कि "निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत" ऋ० १।११०।८ अर्थात् हे आदित्य की रश्मियो! तुम पृथिवी के चर्म का उत्तम रूप दो। निरीक्षण तथा परीक्षणों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि पृथिवी के उर्वरा होने में आदित्य की रश्मियों का बहुत बड़ा हाथ होता है।

इस प्रकार आधिदैविक क्षेत्र में आदित्य की रश्मियाँ ऋभु हैं, और पृथ्वी गौ है। इस पृथ्वीरूपी गौ के वत्स इस पृथ्वी के गर्भ से उत्पन्न होने वाली वनस्पति, ओषधी आदि ही हो सकती हैं, क्यों कि ये पृथिवी के साथ संसर्ग करती हैं। आदित्य की रश्मियाँ इनका पृथिवी के साथ संसर्ग करानेवाली हैं। जैसा कि मन्त्र में कहा है। "सम्वत्सेनासृजता मातरं पुनः" ऋ० १।११०।८ अर्थात् माता का वत्स के साथ संसर्ग करा

दिया। और यह निर्विवाद सिद्ध है कि जहाँ सूर्य की किरणों का प्रवेश नहीं होता, वहाँ अन्न आदि पैदा नहीं हो सकता। इस लिये आधिदैविक क्षेत्र में आदित्य की रश्मियाँ ऋभु हैं, पृथ्वी गौ है, और वनस्पति ओषधी आदि पृथ्वी के गर्भ से पैदा होने वाली चीजें उसके वत्स हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र—

आध्यात्मिक क्षेत्र में ऋभु नाड़ीसंस्थान है। ये नाड़ियाँ आदित्य अर्थात् मस्तिष्क की रश्मियाँ हैं। इसलिये इस क्षेत्र में गौ हमारा शरीर है। जिन व्यक्तियों में नाड़ी-संस्थान सुचारु रूप से कार्य कर रहा होता है, उनका आत्मा व शरीर तेज से खूब देदीप्यमान होता है। और जिन शरीरों में नाड़ी-संस्थान (Nervous System) में कहीं भी विकार पैदा हो जाता है, उनका शरीर मुर्दा सा हो जाता है. और उनमें कार्यशक्ति भी क्षीण हो जाती है। इसलिये त्रिविध नाड़ीसमूह से प्रार्थना है कि शरीररूपी भूमि में जो हिस्सा मृतप्राय हो गया हो उसे सक्रिय और सजीव बना दो।

इस प्रकार हमने आधिदैविक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में संक्षेप में गौ के स्वरूप पर प्रकाश डाला। अब हम अधिराष्ट्र क्षेत्र में गौ के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हैं।

इससे पहले कि अधिराष्ट्र अर्थ में गौ के स्वरूप पर प्रकाश डालें, सायण तथा योरोपियन विद्वानों के भी विचार आप के समक्ष रख देते हैं।

सायणाचार्य और गौ—

सायणाचार्य ने ऋभुसूक्तों में पठित गौ शब्द से पशु-जाति

विशेष का ही ग्रहण किया है। ऋ० १।११०।८ में वह लिखता है कि—

"पुरा कस्यचिदृषेर्धेनुर्मृता स ऋषिस्तस्या धेनोर्वत्सं दृष्ट्वा ऋभूँस्तुष्टाव, ऋभवस्तत् सदृशीमन्यां धेनुं कृत्वा तदीयेन चर्मणा संवीय तेन वत्सेन समयोजयन्"।

अर्थात्—पहिले कभी किसी ऋषि की गौ मर गयी उस ऋषि ने उस गौ के बछड़े को अकेला देख कर ऋभुओं की स्तुति की। ऋभुओं ने उस मृत गौ के समान अन्य गौ बना कर और मरी हुई गौ के चमड़े से उसको ढक दिया। इसके अनन्तर उस बछड़े को उसके साथ मिला दिया।

सायणाचार्य ने ऋ० १।११०।८ मन्त्र के तात्पर्यार्थ को न समझ सकने के कारण पशु-जाति की मृत गौ के सम्बन्ध में उपर्युक्त उपाख्यान रचा है।

विलसन—

विलसन ने अपनी पुस्तक में गौ के सम्बन्ध में कोई विशेष बात नहीं लिखी! वह लिखता है—"A story is related, that a Rishi whose cow had died, leaving a calf, prayed to the Ribhus for assistance on which they formed a living cow, and covered it with the skin of the dead one, from which the calf imagined it to be its own mother. अर्थात् किसी ऋषि की गौ अपने बछड़े को छोड़कर मर गयी। उसने सहायता के लिये ऋभुओं से प्रार्थना की। ऋभुओं ने उसकी प्रार्थना सुन

कर एक जीवित गौ बना कर मरी हुई गौ के चमड़े से उसे ढक दिया इस प्रकार बछड़े ने उसे अपनी माता समझा।

इस प्रकार विलसन ने भी वैसी की वैसी सायण की कथा उठा कर लिख दी।

ग्रिफिथ—

ग्रिफिथ ने गौ का अर्थ पृथिवी किया है। ऋ. १।११०।८ मन्त्र के फुट नोट में वह लिखता है—

A skin = Perhaps the dried up earth.

A Cow=The earth refreshed by the rains.

The Mother=The earth.

इस प्रकार ग्रिफिथ ने गौ का अर्थ पृथिवी किया है, और गौ का चर्म पृथिवी का ऊपरला बंजर हिस्सा माना है। हमारी दृष्टि में भी राष्ट्रिय क्षेत्र में गौ शब्द का अर्थ पृथिवी ही है और उसके चर्म से तात्पर्य पृथिवी के ऊपरले सूखे हिस्से से ही है।

पारसी धर्म के प्रकाण्ड पण्डित मि० हौग भी यहाँ गौ का अर्थ पृथिवी ही करते हैं। उनके विचार आगे प्रकट किये जायेंगे।

इस प्रकार हमने गौ के सम्बन्ध में सायण तथा योरोपियन विद्वानों के विचार प्रकट किये। अब इससे पहले कि हम गौ के सम्बन्ध में अपने राष्ट्रिय दृष्टि से विचार प्रकट करें—यह दर्शाना चाहते हैं कि ऋभु-सूक्तों में धेनु और गौ दोनों एक वस्तु के द्योतक नहीं, जैसा कि सायण ने अपने भाष्य में स्वीकार किया है।

गौ और धेनु की पृथकता—

गौ के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह बात अवश्य ध्यान

में रखनी चाहिये कि इन ऋभु-सूक्तों में गौ और धेनु ये दोनों शब्द अलग अलग दो चीज़ों के द्योतक हैं। धेनु के सम्बन्ध में विस्तृत विचार तो "विश्वरूपा धेनु" इस प्रकरण में किया गया है परन्तु यहाँ पर केवल धेनु से गौ की पृथकता सिद्ध करने के लिये कुछ विचार प्रकट करते हैं। सायण ने अपने भाष्य में गौ और धेनु दोनों को पशु माना है। धेनु सम्बन्धी प्रमाणों को देखते हुए धेनु के सम्बन्ध में यह कह सकना कि यह पशु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, ठीक नहीं। जैसा कि ऋक् ४।३३।८ में आता है कि "ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्" अर्थात् जो ऋभु विश्व को प्रेरणा देनेवाली, तथा नानारूपों वाली धेनु का तक्षण करते हैं। इस प्रकार इस मन्त्रभाग में धेनु को विश्व की प्रेरक और विश्वरूपा कहा है। इसी विश्वरूपा धेनु के सम्बन्ध में "बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत"। ऋ० १।१६१।६ अर्थात् बृहस्पति ने विश्वरूपा धेनु को ग्रहण किया—ऐसा वर्णन आता है। इससे पता चलता है कि विश्वरूपा धेनु का अधिष्ठाता बृहस्पति है। और बृहस्पति के साथ धेनु का सम्बन्ध होने से यह स्पष्ट है कि यहाँ धेनु शब्द वाक् अर्थात् ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि बृहस्पति को वाक् अर्थात् ज्ञान का स्वामी माना गया है, जैसा कि श० १४।४।१।२२ में आता है कि "वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः" अर्थात् वाक् नाम बृहती का है, उसका यह पति है; इसलिये उसे बृहस्पति कहते हैं। और गो० उ० २।६ में स्पष्ट कहा ही है कि "धेना बृहस्पतेः पत्नीः" अर्थात् धेनु बृहस्पति की पत्नी है। इसलिये ऋभु सूक्तों में विश्वरूपा धेनु का प्रयोग ज्ञान अर्थ में हुआ है। सायण के अनुसार पशुजातिविशिष्ट गौ में नहीं। परन्तु गौ शब्द

भूमि के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि ग्रिफिथ तथा हौग ने माना है। और आगे भी हम विस्तार से यह दर्शायेंगे कि गौ शब्द यहाँ पृथिवी अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

अब हम राष्ट्रिय दृष्टि से गौ के वास्तविक स्वरूप की ओर आते हैं। इससे पहले हमने यह सिद्ध किया कि ऋभु सूक्तों में गौ और धेनु शब्द दो चीज़ों के द्योतक हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि गौ और धेनु शब्द परस्पर पर्यायवाची नहीं हैं। गौ का अर्थ भी वाणी होता है और वेद में अनेकों स्थलों पर गौ वाणी के अर्थों में प्रयुक्त भी हुआ है। परन्तु ऋभुसूक्तों में आये गौ के वर्णन से तो यही प्रतीत होता है कि गौ शब्द यहाँ राष्ट्रिय दृष्टि से पृथिवी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। योरोपियन विद्वानों में भी कईयों ने इसे पृथिवी का वर्णन माना है। परन्तु कई यह शंका कर सकते हैं कि ऋ० १।११०।८ में वर्णित गौ के वर्णन से तो यही प्रतीत होता है कि यह सामान्य पशु है। क्योंकि गौ का चमड़ा होना, और फिर उस चमड़े को उतारना, और उसके बछड़े का होना इत्यादि वर्णन तो गौ को जानदार प्राणी सिद्ध करता है। इसलिये यहाँ गौ का अर्थ सामान्य पशु करना चाहिये पृथिवी नहीं। इस पर हमारा निवेदन यह है कि चर्म का प्रयोग किसी चीज़ को प्राणी सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि चर्म शब्द केवल जीवित प्राणी की ऊपरली त्वचा को ही नहीं कहते अपितु प्रत्येक वस्तु के ऊपरले हिस्से को भी चर्म शब्द से कह सकते हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ प्रमाण आपके समक्ष उद्धृत करते हैं। ऋ० ३।५।६ में आता है कि "ससस्य चर्म घृतवत् पदं वेः" सायण ने इसका अर्थ किया है कि "वे व्याप्तस्य ससस्य स्वपतः शान्तज्वालस्याप्यग्नेः चर्मरूपं घृत-

बद्दीप्तमिदं भवति" अर्थात् व्याप्त तथा सुप्त और शान्त ज्वाला वाली अग्नि का चर्मरूप दीप्तिवाला हो जाता है। यहाँ पर सायण ने चर्म शब्द का प्रयोग अग्नि के चर्म में किया है। अथर्व १०।६।२ में शतौदन के सम्बन्ध में कहा गया है कि "वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते" अर्थात् वेदि तेरा चर्म होवे और बर्हि लोम होवें। इस प्रकार यहाँ भी चर्म शब्द अचेतन पदार्थ के ऊपरले हिस्से के लिये आया है। अथर्व ११।१।८ में तो स्पष्ट रूप से पृथिवी के ऊपरले हिस्से को चर्म कहा गया है। वहाँ आता है कि **"इयं मही प्रतिगृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना"** अर्थात् यह पृथिवी देवी फिर चर्म को ग्रहण करे।

इस प्रकार वेद में पृथिवी के ऊपरले हिस्से को भी चर्म कहा गया है। अतएव यहाँ भी गौ के चर्म से तात्पर्य पृथिवी के ऊपरले हिस्से से ही है।

निश्चर्मा गौ—

अब विचारणीय यह है कि पृथिवी को चर्म रहित करने का क्या तात्पर्य है। वेद में आता है कि "निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत" ऋ० १।११०।८ अर्थात् ऋभुओं ने पृथिवी को उपजाऊ बनाने के लिये हल आदि चला कर ऊपर का बंजर हिस्सा हटा दिया। हम अभी ऊपर दर्शा ही चुके हैं कि चर्म किसी भी वस्तु के ऊपरले हिस्से को कहते हैं। इसलिये यहाँ पर चर्म शब्द का प्रयोग पृथिवी के ऊपरले हिस्से के लिये हुआ है। ग्रिफिथ ने भी चर्म का अर्थ यही किया है—Perhaps the dried up earth. अर्थात् पृथिवी का ऊपरला सूखा हिस्सा। इसलिये गौ अर्थात् पृथिवी को चर्मरहित करने का तात्पर्य है

कि हल आदि के द्वारा पृथिवी का ऊपरला बंजर हिस्सा हटा देना और उसे अन्न पैदा करने के लिये उपयोगी बनाना। इस अलंकार को न समझ सकने के कारण सायण ने अर्थ का अनर्थ कर डाला। यह अलंकार पर्शियन धर्म में भी पाया जाता है। पारसी-धर्म-विषयक अपनी पुस्तक में हौग ने लिखा है कि जिन्दावस्था के "गाथा अहुन्वैति" प्रकरण में 'अहुर्मज्दा' के द्वारा यह शिक्षा दी गयी कि Gaush Urva=गोश उर्वा" कृषकों के हित के लिये काटा जावे। हौग ने गोश-उर्वा का शाब्दिक अनुवाद "Soul of the cow" करते हुए कहा है कि इसका अभिप्राय गौ अर्थात् भूमि की उत्पादक शक्ति है। फिर हौग महाशय लिखते हैं कि यह गोष् शब्द भूमि वाचक गो का अपभ्रंश है। परन्तु उन्हें उर्वा का मूल नहीं सूझा। उर्वा का मूल उर्वरा है।

आगे फिर हौग महाशय लिखते हैं कि वेद में भी इसी प्रकार का वर्णन आता है कि ऋभुओं ने गौ (भूमि) को काटा और उसे उर्वरा बनाया। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह आलंकारिक वर्णन अन्य धर्मों में भी पाया जाता है, जिसका तात्पर्य यह है कि पृथिवी को जोत-जातकर उर्वरा बनाना।

ऋभु लोग सामान्य तौर पर हल चला कर ही पृथिवी को चर्मरहित नहीं करते परन्तु वे दिमाग से सोचते रहते हैं कि किस तरह पृथ्वी को ज्यादः से ज्यादः उर्वरा बनाया जा सकता है। इसलिये वेद मन्त्र ऋ० ३।६०।२ में कहा है कि "यया धिया गामरिणीत चर्मणः", अर्थात् जिस बुद्धियुक्त कर्म से उन्होंने पृथ्वी के चर्म को उससे अलग किया।

अब तक हमने यह देखा कि सायण का गौ का पशु-जाति

विशिष्ट अर्थ ठीक नहीं है। केवल हम ही नहीं अपितु योरोपियन विद्वानों में से भी बहुत सारे गौ को पृथिवी ही मानते हैं। हमारा भी मत यही है कि यहां पर राष्ट्रिय दृष्टि से गौ का अर्थ पृथिवी ही युक्तियुक्त है। और पृथिवी के चर्म को हटाने का तात्पर्य हल आदि चला कर उसे उर्वरा बनाना है।

अब हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वत्स का गौ के साथ संसर्ग बीज-वपन के भाव को द्योतित करता है।

गौ के साथ वत्स का संसर्ग—

युक्ति तथा अन्य विद्वानों के प्रमाणों से हमने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि यहाँ गौ का अर्थ पृथिवी करना चाहिये। अब विचारणीय विषय यह है कि वत्स का पृथिवी के साथ संसर्ग करने का क्या तात्पर्य है। वेद में आता है कि—

'निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत संवत्सेनासृजता मातरं पुनः'।

ऋ० १।११०।८

अर्थात् ऋभुओं ने गौ को चर्मरहित किया और फिर गौ माता का वत्स के साथ संसर्ग करा दिया।

जब हम गौ का अर्थ पृथिवी कर चुके हैं, तब उसके साथ वत्स का संसर्ग कराना स्पष्ट ही बीज-वपन के भाव को द्योतित करता है। नि० अ० २, ख० २०। में सूर्य को वत्स के रूप में दिखाया गया है। वहाँ आता है कि "सूर्यमस्या वत्समाह, साहचर्याद् रसहरणाद् वा" अर्थात् सूर्य उषा का वत्स है, क्यों कि साहचर्य से और उसका रस हरने के कारण। यहाँ पर साहचर्य, और रसपान के कारण सूर्य को उषा का वत्स कहा गया है। इसी प्रकार यहाँ ऋभु-सूक्तों में भी वत्स का गौ के साथ

संसर्ग का वर्णन तो स्पष्ट ही किया गया है। और यह बीज-रूपी वत्स अपनी पृथ्वी-माता का रस भी हरण करता है। इस लिये पृथिवी का वत्स, बनस्पति ओषधियाँ आदि ही हैं। क्यों कि पृथ्वी-माता के गर्भ में बीज जाता है, वहाँ वह पृथिवी के साथ संसर्ग करता है, और पृथ्वी से रस लेकर वृक्ष, वनस्पति, ओषधी आदि के रूप में उसके गर्भ से पैदा होता है। इसी भाव को मन्त्र में इस प्रकार दर्शाया है कि "तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवन्" अर्थात् ऋभुओं ने वत्स के साथ रहने योग्य माता को बनाया। इसी प्रकार गौ के तक्षण के सम्बन्ध में एक और मन्त्र आता है। वह इस प्रकार है—

यत्संवत्समृभवो गामरक्षन् यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्।
यत्संवत्समभरन्भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः॥
ऋ० ४।३३।४

इस मन्त्र का सायण भाष्य इस प्रकार है—

संवत्सं संवसन्ति भूतानि अस्मिन्निति संवत्सः संवत्सरः संवत्सरपर्यन्तं ऋभवो गां मृतामरक्षन् अपालयन् स्वसामर्थ्यादिति यत् यदेतत् कर्मास्ति तथा संवत्सं संवत्सरं ऋभवो मास्तस्या एव गोर्मांसमपिंशन् अवयवानकुर्वन्निति यत् किंच मृतायाः गोः त्वचांगपुच्छाद्यतस्या मांसं समयोजयन् इत्यर्थः। किंच संवत्सं संवत्सरपर्यन्तमस्या भासः अभरन् दीप्तीरवयवशोभा अकुर्वन् इति यत् ताभिः शमीभिः मृतायाः गोर्नवीकरणविषयैः कर्मभिरमृतत्वमाशुः देवत्वं प्राप्ताः......यद्वात्र संवत्समित्येतद्वत्सेन सहेति व्याख्येयम्।

अर्थात्—ऋभुओं ने एक वर्ष तक तो उस मरी हुई गौ की रक्षा की और दूसरे एक वर्ष तक उन्होंने उस गौ के मांस के

टुकड़े टुकड़े किये और त्वचा-पूँछ आदि के रूप में उसके मांस को जोड़ा। और फिर तीसरे एक वर्ष तक तेज आदि के द्वारा उस गौ के अवयवों में शोभा आदि पैदा की। इस प्रकार मरी हुई गौ को नया बनाने के कारण वे अमर हो गये।

इस प्रकार का यह वर्णन इस बात की स्पष्ट साक्षी है यह सामान्य पशु-जाति की गौ नहीं है। क्योंकि ऋभुओं ने कि एक वर्ष तक तो उसकी रक्षा की और फिर दूसरे एक वर्ष तक उसके टुकड़े करते रहे और फिर तीसरे एक वर्ष तक उसमें तेज आदि के द्वारा दीप्ति पैदा की। इस प्रकार तीन वर्ष तक सामान्य पशु-जाति की मरी हुई गौ की रक्षा करना और फिर टुकड़े टुकड़े करके नयी बनाना बिल्कुल असम्भव है, और एक उपहासास्पद बात प्रतीत होती है। गौ से तात्पर्य भूमि से है, और भूमि में यह चीज बहुत ही सुन्दर रूप में घटती है। और एक यह नयी बात भी पता चलती है कि मृत गौ अर्थात् कृषि के लिये अनुपयोगी भूमि को किस प्रकार उपजाऊ बनाया जाये। वेद ने सायण के कथनानुसार भूमि को उर्वरा बनाने की अवधि तीन वर्ष की बतायी है। अर्थात् तीन वर्ष तक उस भूमि में हल आदि चलाते रहना चाहिये और तीन वर्ष तक उसमें कुछ नहीं बोना चाहिये। मन्त्र में भूमि को उर्वरा बनाने का क्रम इस प्रकार दिया है।

एक वर्ष तक तो भूमि को ऐसे ही छोड़ देना चाहिए अर्थात् उसमें कुछ नहीं बोना चाहिये। फिर दूसरे वर्ष उसमें हल आदि से काट-छाँट करते रहना चाहिये, और फिर तीसरे वर्ष उसमें सूर्य किरणों से अथवा अन्य साधनों से तेज आदि का प्रवेश कराना चाहिये। इस प्रकार करने से पृथिवी उर्वरा बन जाती है।

गौ के सम्बन्ध में एक और मन्त्र है जो कि विशेष विचारणीय है। मन्त्र इस प्रकार है—

श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम्। आनिम्रुचः शकृदेको अपाभरत् किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः ॥ ऋ० ।१।१६१।१०।

(एकः) अर्थात् एक व्यक्ति (श्रोणां गां उदकमवाजति) अग्नि द्वारा जली हुई पृथिवी में पानी पहुँचाता है (एकः सूनयाभृतं माँसं पिंशति) और एक हलादि द्वारा पृथिवी के मांस का रूप देता है (एकः) और एक (आनिम्रुचः शकृदपाभरत्) पृथिवी के उर्वरा होने तक उसके मल आदि को दूर करता रहता है। (किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः) भला! ऋभुपुत्रों के लिये द्यावापृथिवीरूपी पितर क्या प्राप्त करावें?

इसका तात्पर्य यह है कि ऋभु लोग अपनी विज्ञान-शक्ति के प्रभाव से पृथिवी को उर्वरा करने के लिये इतने साधन पैदा कर लेते हैं, कि फिर उन्हें द्यावापृथिवी अर्थात् वर्षा आदि ऋतु तथा सूर्य-सम्बन्धी तेज आदि पर आश्रित नहीं होना पड़ता। इसी बात को मन्त्र में अलंकार रूप में इस प्रकार कहा कि "किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः" अर्थात् पुत्रों के लिये द्यावापृथिवी क्या प्राप्त करावें जो कि उन्हें प्राप्त न हो। परन्तु अभी इसमें यह विचारणीय है कि ऋभुओं में किसका क्या क्या कार्य है। विद्वान् इस पर विचार करें।

इस प्रकार ऋभु-सूक्तों में गौ पृथिवी है, और उसका वत्स वनस्पति, ओषधि आदि पृथिवी से संसर्ग करनेवाले पदार्थ हैं। ऋभु लोग मृत गौ अर्थात् बंजर भूमि को उर्वरा करते हैं और इसके अनन्तर वनस्पति ओषधि आदि पदार्थ उसमें बोते हैं।

१४. विश्वरूपा धेनु

ऋभु-सूक्तों में विश्वरूपा धेनु का ७ मन्त्रों में वर्णन आता है। मन्त्र निम्न हैं—

१. तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम्। ऋग्० १।२०।३

२. धेनुः कर्त्वा। ऋग्० १।१६१।३

३. उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीडे। ऋग्० ४।३३।१

४. ये...धेनुं ततक्षुः। ऋग्० ४।३४।६

५. क्षामा ये विश्वधायसो अश्नन् धेनुं न मातरम्।
ऋग्० १०।१७६।१

६. ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्। ऋग्० ४।३३।८

७. बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत। ऋग्० १।१६१।६

अब क्रमशः इन मन्त्रों का अर्थ दिया जाता है—

१. ऋभु लोग ज्ञान का दोहन करने वाली वाणी का तक्षण करते हैं।

२. हे ऋभुओ! धेनु बनानी है!

३. अपने कार्य के विस्तार के लिये अति शुद्ध धेनु अर्थात् ज्ञान की मैं स्तुति करता हूँ।

४. ऋभुओं ने धेनु का तक्षण किया।

५. सबको धारण करनेवाले ऋभुओं के शिष्य, मातृरूपा धेनु की तरह सारी पृथ्वी को अपने कार्यों से व्याप्त कर लेते हैं।

६. ऋभुओं ने सबको प्रेरणा देनेवाली, नानारूपोंवाली धेनु अर्थात् ज्ञान का तक्षण किया।

७. बृहस्पति ने विश्वरूपा धेनु को हाँका।

ऋ० ४।३३।८ में एक मन्त्र आता है—**'ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्'** अर्थात्—ऋभुओं ने विश्व की प्रेरक और नाना-रूपों वाली धेनु का तक्षण किया। इस मन्त्र में धेनु को विश्व-रूपा नाम से याद किया गया है। इस विश्वरूपा धेनु का ऋ० १।१६१।६ में बृहस्पति के साथ सम्बन्ध बताया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

'इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामु-पाजत' अर्थात्—जिस प्रकार इन्द्र और अश्विनी, हरी और रथ के अधिष्ठाता हैं। उसी प्रकार बृहस्पति विश्वरूपा धेनु का अधिष्ठाता है। इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से हमें यह पता चला कि यह धेनु विश्वरूपा है, और इसका सम्बन्ध बृहस्पति के साथ है। इसलिये विश्वरूपा धेनु का स्वरूप जानने के लिये निम्न बातें विचारणीय हैं।

१. सायण तथा योरोपियन विद्वानों का मत।

२. विश्वरूपा का वास्तविक स्वरूप।

(क) बृहस्पति कौन है? और उसका विश्वरूपा धेनु के साथ क्या सम्बन्ध है?

(ख) ब्राह्मणादि ग्रन्थों के धेनु-विषयक प्रमाण।

सायण तथा योरोपियन विद्वानों का मत—

सायण ने धेनु और गौ दोनों को एक माना है। सायण के अनुसार यदि धेनु शब्द का सामान्य गौ अर्थ करें तो धेनु शब्द से सम्बन्धित कई मन्त्रों की व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे धेनु के सम्बन्ध में एक मन्त्र आता है—**'ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्'** अर्थात् सबको प्रेरणा देने वाली, नानारूपों वाला

धेनु का ऋभुओं ने तक्षण किया। यदि धेनु सायण के अनुसार सामान्य पशु है तो यह समझ में नहीं आता कि विश्व को प्रेरणा देनेवाली और विश्वरूपा यह सामान्य गौ कैसे हो सकती है? विश्व को प्रेरणा देना और नानारूपोंवाली होना तो धेनु के दूसरे अर्थ वाक् अर्थात् ज्ञान में तो संगत हो सकता है। इसलिये यहाँ धेनु शब्द का सामान्य पशु गौ अर्थ करना ठीक नहीं। योरोपियन विद्वान् विलसन आदि ने भी इस प्रकरण में सायण का ही अनुसरण किया है। इसलिये उनका मत भी सर्वथा अमान्य है।

विश्वरूपा का वास्तविक स्वरूप—

हम ऊपर यह दर्शा चुके हैं कि धेनु का बृहस्पति के साथ सम्बन्ध है। अतः विश्वरूपा धेनु का वास्तविक स्वरूप जानने के लिये हमें बृहस्पति के ऊपर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये।

(क) बृहस्पति कौन है?

बृहस्पति वैदिक देवताओं में से एक देवता है। इसका विशद विवेचन तो फिर कभी किया जायेगा। परन्तु विश्वरूपा धेनु के स्वरूप-निर्णय के लिये संक्षेपतः इस पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

बृहस्पति के स्वरूप-बोधन के लिये निम्न मन्त्र या मन्त्रांश विचारणीय हैं।

१. उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा। ऋ० २।२३।२
२. विश्वेषां ब्रह्मणां जनिता। ऋ० २।२३।२
३. ऋतस्य ज्योतिष्मन्तं रथं तिष्ठसि। ऋ० २।२३।३

४. सुनीतिभिर्नयसि । ऋ० २।२३।४

५. पृथिकृत् । ऋ० २।२३।६

६. उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुकोवृकः । बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्मै देववीतये कृधि । ऋ० २।२३।७

७. अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति । बृहस्पते मा प्रणक्तस्य नो वधो निकर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः ।

ऋ० २।२३।१२

अब क्रमशः इनका अर्थ दिया जाता है—

"वह बृहस्पति विद्यारूपी ज्योति से सूर्य के समान किरणों वाला है" "सब विद्याओं का उत्पति करनेवाला" "ज्ञान के ज्योतिः-स्वरूप रथ पर आसीन हुआ हुआ है" "उत्तम २ मार्गों से प्रजा को ले जानेवाला", "सब के लिये रास्ता बनानेवाला" "हे बृहस्पति ! जो हमें पाप-रहित मार्ग से ले चलता है, उसे हमें प्राप्त कराइये। और जो हमारा शत्रु है, चोर है, और हमारा नाश करनेवाला है, उसको आप पथभ्रष्ट कीजिये। हमारे में दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिये उत्तम-उत्तम मार्ग बनाइये।" "अशुद्ध मन से जो अपनी या दूसरों की हिंसा करना चाहता है, और जो अपने को शासन करनेवालों में उग्र समझता है, हे बृहती वाणी के पालक ! उसका हथियार हमें न मारे, उसके मन्यु को हम तुच्छ समझें।"

संक्षेप में उपर्युक्त मन्त्रों का सार यह है—

१—वह बृहस्पति विद्याओं का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है।

२—प्रजाओं में शिक्षाप्रसार द्वारा उत्तम नियन्त्रण तथा सन्मार्ग प्रदर्शन करनेवाला है।

३—अशुद्ध मन का विनाश तथा दुष्ट पुरुषों को प्रजा से दूर करनेवाला है।

४—राष्ट्र के सब प्रकार के भाषण चाहे वे Press और Platform के भी क्यों न हों, उनको नियन्त्रण में रखने वाला है।

इस प्रकार बृहस्पति राष्ट्र के शिक्षा-विभाग का अध्यक्ष है। और उसका एक काम यह है कि राष्ट्र में शिक्षा-प्रचार द्वारा तथा Press और Platform आदि पर नियन्त्रण रख कर उत्तम ज्ञान का प्रचार करे। कोई आदमी मूर्ख न रहे तथा अनियन्त्रित भाषा का प्रयोग न करे। गन्दे तथा झूठे प्रचार द्वारा राष्ट्र को हानि न पहुँचाये। दुष्ट मनुष्य अपने स्वार्थ तथा यश के लिये जनता को गुमराह न कर देवें। ऐसे आदमियों पर नियन्त्रण रखना और यथावसर उन्हें राष्ट्र से बाहर कर देना बृहस्पति का काम है। इसलिये ऋभुसूक्तों में वर्णित विश्वरूपा धेनु का बृहस्पति के साथ सम्बन्ध होने के कारण धेनु का अर्थ वाक् अर्थात् ज्ञान ही है। सायण के कथनानुसार सामान्य पशु-जातिवाली गौ नहीं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि जहां धेनु का बृहस्पति के साथ सम्बन्ध आया है, वहाँ धेनु का अर्थ वाक् अर्थात् ज्ञान होता है। श० १४।४।१।२२ में आता है कि "वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः" अर्थात् वाग् को बृहती कहते हैं, उसका यह पति है, इसलिये इसे बृहस्पति

कहते हैं। इस प्रकार श. प. ब्रा. में वाक् का पति बृहस्पति को बताया गया है। गो० ब्रा० में धेनु को बृहस्पति की पत्नी कहा गया है। वहाँ आता है "धेना बृहस्पतेः पत्नी"। गो० उ० २।६ अर्थात् धेनु बृहस्पति की पत्नी है। इसलिये धेनु और वाक् एक ही चीज़ हुई। निम्न ब्राह्मण-वाक्यों में तो वाक् को स्पष्ट रूप से धेनु कहा गया है। ता० १८।६।२१॥ गो० पू० २।२१ में आता है कि 'वाग् वै धेनु' अर्थात् वाग् ही धेनु है। श० ६।१।२।१४॥१४। ८।६।१ में भी कहा है कि "वाचमेव तद्देवा धेनुमकुर्वत" तथा "वाचं धेनुमुपासीत" अर्थात् देवताओं ने वाक् को ही धेनु बनाया। और वाक् धेनु की उपासना करो। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि बृहस्पति वाक् का पति है, और वाक् का दूसरा नाम धेनु है।

अब हम यह दिखाना चाहते हैं कि वाक् का अर्थ वैदिक साहित्य में सामान्य वाणी ही नहीं अपितु प्रायः वाक् शब्द ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि ऐ० ३।१ में आता है कि "वाक् तु सरस्वती" अर्थात् वाक् सरस्वती को कहते हैं। इसी प्रकार ऐ० २।२४॥६।७ में भी "वागेव सरस्वती" अर्थात् वाक् ही सरस्वती है, ऐसा कहा है। इसी प्रकार और भी कई स्थलों पर ब्राह्मणों में वाक् को सरस्वती कहा है। इस प्रकार हम यह देख चुके कि ब्राह्मणों में वाक् धेनु है, और वाक् को सरस्वती भी कहते हैं। इस लिये 'विश्वरूपा धेनु' का अर्थ हुआ नाना प्रकार का ज्ञान। और "बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत" का तात्पर्य हुआ कि ऋभु लोग अपनी बुद्धि के बल से नाना प्रकार का ज्ञान उपार्जन करते हैं, और शिक्षा-विभाग (Educational Dept.) के अध्यक्ष बृहस्पति को सुपुर्द कर देते हैं। इसका तात्पर्य यह

हुआ कि ऋभु लोग राष्ट्र में चल रहे नाना भाँति के यज्ञों (laboratory, mills आदि) में ज्ञान को क्रिया में परिणत करते हैं। उसके आधार पर तरह तरह के परीक्षण तथा निरीक्षण करते रहते हैं। और जो ज्ञान क्रिया में सत्य सिद्ध प्रतीत होता है, वह बृहस्पति को दे दिया जाता है। और बृहस्पति उसका राष्ट्र में प्रसार करता है।

अब हम वैदिक प्रमाणों से भी धेनु का स्वरूप आप के सामने खोल कर रखते हैं।

ऋ० ८।१००।१० में कहा गया है कि—

"यद् वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वस्विदस्याः परमं जगाम।"

अर्थात् (यत्) जो (अविचेतनानि) अज्ञात पदार्थों को (वदन्ती) बतलानेवाली (देवानां राष्ट्री) विद्वानों की शोभा, (मन्द्रा) प्रसन्नता को देने वाली (वाक्) वाणी अर्थात् ज्ञान (निषसाद) प्राप्त होता है और वह (चतस्र ऊर्जं पयांसि दुदुहे) चारों दिशाओं में अन्न और रस को दोहती हैं (अस्याः परमं क स्वित् जगाम) इस ज्ञान के परमोत्कृष्ट स्वरूप को भला कौन जान सकता है।

इसी सूक्त का अगला मन्त्र भी वाक् के ही सम्बन्ध में है, वह भी देख लेना चाहिये। इन दोनों मन्त्रों से धेनु के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश पड़ता है। मन्त्र इस प्रकार है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सानो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥
ऋ० ८।१००।११

(देवाः) देवताओं ने (देवीं वाचमजनयन्त) दिव्य-वाणी अर्थात् दिव्य ज्ञान पैदा किया (तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति) उसको नाना प्रकार के मनुष्य-पशु बोलते हैं (सा) वह वाणी (नः) हमारे लिये (मन्द्रा) आनन्द (इषम्) अन्न तथा (ऊर्जं दुहाना) बल का दोहन करती हुई (सुष्टुता) प्रशस्त वह (धेनुर्वाग्) धेनु रूपी वाणी अर्थात् ज्ञान (उपैतु) हमें प्राप्त हो।

इन मन्त्रों में धेनु के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसको वाक् कहा गया है। और यह भी बताया गया है कि उसे नाना-रूपों वाले मनुष्य-पशु बोलते हैं। श० ६।२।१।२ में कहा है कि "स एतान् पञ्चपशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत् तस्मादेते पशवः" अर्थात् पाँच पशुओं को अग्नि ने देखा। वे पाँच पशु पुरुष, अश्व, गौ, अवि, और अज हैं। इस प्रकार इन पाँच पशुओं में एक पशु मनुष्य भी माना गया है। यहाँ पर मनुष्यरूपी पशु का ही ग्रहण होगा अन्यों का नहीं। क्योंकि अज्ञातपदार्थों को बतलाने वाली, विद्वानों से पैदा की हुई वाणी को मनुष्य ही बोलने वाले होते हैं। पशुओं की वाणी अव्यक्त-वाणी होती है। इस लिये मन्त्र का तात्पर्य यह है कि देवताओं ने दिव्यवाणी अर्थात् दिव्यज्ञान पैदा किया। इस ज्ञान को लेकर मनुष्य अपने अपने व्यवहारों में प्रयोग करते हैं और उसे नाना प्रकार के व्यवहारों में प्रयोग करने से अन्न तथा बल को प्राप्त होते हैं, और फिर उससे सुखी होते हैं।

उसी ज्ञान को यहाँ धेनु कहा गया है। और क्यों कि नाना प्रकार के मनुष्य उसे अपने प्रयोगों में लाते हैं, इसलिये सब मनुष्यों के व्यवहार तथा प्रयोगों में आने से वह धेनु-रूपी

ज्ञान नानारूपों वाला कहलाया। अथवा यह भी हो सकता है कि विद्वानों ने ब्रह्माण्ड में स्थित प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान उपार्जन किया। इसलिये नाना विषयों का होने के कारण वह 'विश्वरूपा धेनु' कहलाया।

इसी बात को प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि वह ज्ञान जो विद्वानों ने पैदा किया है, अज्ञातपदार्थों का परिचय देता है। और उसी में यह भी कह दिया है कि परमात्मा की सृष्टि अनन्त है, इसलिये उसका ज्ञान भी अनन्त है। अतः उसका परमरूप पा सकना बहुत मुश्किल है। इसलिये इन दो मन्त्रों में बताया गया कि यह विद्वानों से पैदा की हुई वाग् अर्थात् ज्ञान ही धेनु है और यह हमें आनन्द, अन्न तथा बल आदि देवे।

इसी प्रकार ऋभुसूक्तों में प्रतिपादित विश्वरूपा धेनु भी वाक्-पति बृहस्पति के साथ सम्बन्ध होने से नानाभाँति का ज्ञान ही है, जिसको ऋभुओं ने राष्ट्र में परीक्षण तथा निरीक्षण आदियों से सत्य की कसौटी पर कसा है। और आगामी सन्तति के ज्ञान के लिये बृहस्पति अर्थात् राष्ट्र के शिक्षा-विभाग (Educational Depat) को सुपुर्द कर दिया है।

१५. ऋभुओं के पितर

अब हमने ऋभु-देवताक सूक्तों में आये हुए 'पितरौ' शब्द के ऊपर विचार करना है। ऋभु-देवता वाले सूक्तों में १० मन्त्र पितरों के सम्बन्ध में आते हैं, जोकि नीचे दिये जाते हैं—

१. युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः ऋभवो विष्टयक्रत। ऋ० १।२०।४

२. सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितरा कृणोतन । ऋ० १।११०।८

३. तन्न् पितृभ्यामृभवो युवद्वयः ऋ० १।१११।१

४. या जरन्ता युवशा ता कृणोतन । ऋ० १।१६१।७

५. किं स्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः । ऋ० १।१६१।१०

६. सम्मील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित् तात्या पितरा व आसतुः । अशपत यः करस्नं व आददे यः प्राब्रवीत् प्रोतस्मा अब्रीतन । ऋ० १।१६१।१२

७. यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः । आदिद्देवानामुपसख्यमायन् धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै । ऋ० ४।३३।२

८. पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना । ऋ० ४।३३।३

९. शच्याकर्त पितरा युवाना । ऋ० ४।३५।५

१०. जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तत्तथ । ऋ० ४।३६।३

अब क्रमशः इनका मन्त्रार्थ दिया जाता है—

१. सत्य मन्त्र वाले, सीधे मार्ग का अवलम्बन करने वाले ऋभुओं ने पितरों को फिर युवा तथा व्यापक कर दिया ।

२. उत्तम अन्तरिक्ष वाले ऋभुओं ने अपने उत्तम कर्मों से जीर्ण-शीर्ण पितरों को युवा कर दिया ।

३. ऋभुओं ने पितरों की युवा आयु कर दी।

४. वृद्ध पितरों को युवा कर दिया।

५. पितर अपने पुत्रों के लिये भला क्या नहीं प्राप्त कराते अर्थात् सब कुछ प्राप्त कराते हैं।

६. हे ऋभुओ! आपस में मिलकर जब तुमने सब भुवनों में स्थित पदार्थों का पर्यवेक्षण किया तो उस समय उनमें विद्यमान पितृत्व तथा मातृत्व भला कहाँ छिपे रहते? जो पदार्थ तुम्हारा हाथ रोकता है अर्थात् उसमें तुम्हारी गति नहीं होती तो उसके ऊपर तुम और भी झुँझला कर पड़ते हो, अर्थात् उसके अनुसन्धान में ऋभु और भी तन, मन, धन से जूझ पड़ते हैं। और जिस पदार्थ ने उनके सामने अपने स्वरूप को खोल दिया उसकी वे ऋभु बहुत प्रशंसा करते हैं।

७. जब ऋभुओं ने पितरों अर्थात् द्यावापृथिवीस्थ पदार्थों में, निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण आदि साधनों से प्रवेश कर और उनको राष्ट्र में व्याप्त कर तथा उनसे उत्तम-उत्तम कार्य लेकर राष्ट्र को अलंकृत कर दिया। इसके अनन्तर ही ऋभु लोग देवताओं के मित्र बने। वे धीर हैं और अपने ज्ञान से राष्ट्र की पुष्टि करते रहते हैं।

८. जो पितर यूप की तरह जीर्ण हुए हुए सदा शयन करते रहते हैं, उनको ऋभु लोग फिर युवा कर देते हैं।

९. अपनी शक्ति से ऋभुओं ने पितरों को युवा बनाया।

१०. इस समय जरावस्था को प्राप्त हुए और बहुत अरसे से वृद्ध हुए-हुए पितरों को गतिशील बनाने के लिये फिर युवा कर दिया।

उपर्युक्त सब मन्त्र एक स्वर से यह कह रहे हैं कि ऋभुओं

ने अपने वृद्ध पितरों को युवा कर दिया। अब विचारणीय विषय यह है कि ये पितर कौन हैं? और इनको युवा करने का क्या तात्पर्य है?

इस राष्ट्रीय प्रकरण में पितरों के दो अर्थ हो सकते हैं।

१. भौतिक जन्म देनेवाले माँ-बाप।

२. द्यावापृथिवी।

सायण ने सब स्थलों पर 'पितरौ' का अर्थ भौतिक जन्म देनेवाले मां-बाप ही किया है, जोकि ठीक नहीं। क्योंकि कई मन्त्रों में पितरों के सम्बन्ध में "सनाजुरा" और "सना यूपेव जरणा शयाना" इत्यादि विशेषण ऐसे आते हैं, जोकि भौतिक जन्म देनेवाले मां-बापों में नहीं संगत होते। इसलिये प्रत्येक स्थल पर 'पितरौ' का अर्थ भौतिक जन्म देनेवाले मां-बाप करना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। यदि इस प्रकरण में आये हुए गूढ़ रहस्यों को सूक्ष्म-दृष्टि से देखा जाये तो "पितरौ" का "द्यावापृथिव्यौ" अर्थ ही प्रमाणों से ज़्यादः पुष्ट होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऋभु अपने माता-पिता को युवा नहीं करते, उन्हें भी युवा करते हैं परन्तु 'पितरौ' का भौतिक जन्म देनेवाले माँ-बाप ही अर्थ करना वेद के अभिप्राय को सीमित करना है। भौतिक-जन्म देनेवाले माँ-बाप को 'युवा करना' तो द्यावापृथिवी (द्यावापृथिवी में स्थित सब प्राणी व अप्राणी तक को) कोयुवा करने के अन्तर्गत ही आ जाता है। इसलिए पितरौ के स्वरूप-निर्णय के लिये हमें निम्न बातों पर विचार करना पड़ेगा—

१. द्यावापृथिवी भी पितर कहलाते हैं।

२. ऋभुओं के स्वरूप तथा कार्यों को दृष्टि में रखते हुए पितरों का निर्णय।

३. पितरों का जीर्ण होना।
४. पितरों का युवा होना।
५. द्यावापृथिवी अर्थ होने से मन्त्रों की सुसंगति।

द्यावापृथिवी भी पितर कहलाते हैं—

अनेक मन्त्रों में द्यावापृथिवी को पितरौ कहा गया है। उदाहरणार्थ तीन चार प्रमाण ही हम यहां दिये देते हैं।

उभा पितरा महयन्नजायताग्निर्द्यावापृथिवीभूरिरेतसा।

ऋ० ३।३।११

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी का विशेषण 'पितरौ' दिया गया है।

प्र पूर्वजे पितरा........ ऋ० ७।५३।२

यहाँ भी द्यावापृथिवी के लिये पितरौ आया है।

परिच्छिता पितरा पूर्वजावरी.....। ऋ० १०।६५।८

इस मन्त्र में भी द्यावापृथिवी के लिये पितरौ शब्द आता है। निरुक्त० ४।२१ में आता है कि **"द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्—"** अर्थात् द्युलोक पिता है और पृथिवी माता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मंत्रों से तथा निरुक्त के प्रमाण से यह स्पष्ट हो गया कि द्यावापृथिवी भी पितर कहलाते हैं। जब हमें यह पता चल गया कि द्यावापृथिवी भी पितर कहलाते हैं, तो विचारणीय यह है कि इन ऋभु-सूक्तों में पितरौ का अर्थ द्यावापृथिवी हो सकता है कि नहीं।

ग्रिफिथ ने अपने अनुवाद में पितरौ का द्यावापृथिवी ही अर्थ किया है। वह लिखता है—Sire and Mother : Heaven

and Earth, which they, as deities of the seasons refresh and restore to youth.

Rig. 1.20.4

पिता और माता अर्थात् द्युलोक और पृथिवीलोक, जो कि ऋभुओं के देवता हैं, यौवन में नवीनता और प्राचुर्यता पैदा कर देते हैं।

The restoration to youth of the aged parents, Heaven and Earth, appears to be symbolically described under the figure of a sacrifice.

Rig. 1.161.10

वृद्ध माता पिता अर्थात् आकाश और पृथिवी को जवान बनाना यज्ञ में symbol के रूप में वर्णन किया गया प्रतीत होता है।

इस प्रकार ग्रिफिथ ने भी पितरौ का अर्थ द्यावापृथिवी ही किया है। अब हम पितरौ के सम्बन्ध की अन्य बातों से भी उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

ऋभुओं के स्वरूप तथा कार्यों को दृष्टि में रखते हुए पितरों का स्वरूप निर्णय—

यह हम संक्षेप में पहले दर्शा चुके हैं कि ऋभु लोग वैज्ञानिक (Scientists) हैं। वैज्ञानिकों का काम द्युलोक तथा पृथिवीलोक में से नये नये तत्व लेकर नयी नयी सृष्टियां रचने का होता है। वैज्ञानिकों का सारा का सारा पदार्थ (Material) इसी द्यावापृथिवी में ही होता है। इन्हीं द्यावापृथिवीस्थ पदार्थों को उपयोग में लाकर वे अपने ऋभु नाम को चरितार्थ करते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन्हीं द्यावापृथिवी के कारण उनकी सत्ता है। इसलिये यदि उन्हें द्यावापृथिवी के पुत्र कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। ये द्यावापृथिवी ऋभुओं के तो पितर हैं, परन्तु कवियों के पुत्र हैं। क्योंकि कवि कल्पना के द्वारा नयी सृष्टि रच लेता है अथवा सृष्टि को नये रूप में रख देता है। वह अपनी सृष्टि के लिये इस प्रकृति की आवश्यकता ही नहीं रखता! जैसा कि मम्मट ने भी कहा है—

नियतिनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्रां। नवरसरुचिरां निर्मतीमादधती भारती कवेर्जयति॥

अर्थात्—कवि की वाणी विधाता के नियम से रहित, आह्लादमय, किसी के परतन्त्र न रहने वाली, नौ रसों के कारण रुचिर-रचना को धारण करती हुई विजयशालिनी होती है।

इसलिये ये द्यावापृथिवी, कवि के तो पुत्र हैं, क्योंकि वह इनकी उत्पत्ति करता है। और ऋभुओं के ये पितर हैं, क्योंकि ऋभुओं की उत्पत्ति इन्हीं से है। वैदिक सरणि तो इसी ही प्रकार की है। वहाँ पितृत्व और पुत्रत्वादि कल्पना आलंकारिक रूप में पायी जाती है।

जैसे—सहसस्पुत्रः = साहस का पुत्र।
ब्राह्मणः = ब्रह्म का पुत्र।
मनुष्यः = मनु का पुत्र।
शवसोनपात् = बल का पुत्र।

इत्यादि उदाहरण जो कि ३, ४ यहाँ दिये गये हैं, इस बात की साक्षी हैं कि वैदिक साहित्य में भौतिक जन्म का इतना महत्व नहीं है, जितना कि गुणों के कारण हुए जन्म का है।

इसलिये ऋभुओं के पितरों का निर्णय भी हमें उनके गुणों तथा कार्य को दृष्टि में रखकर ही करना चाहिये।

ग्रिफिथ ने तो पितरों का अर्थ द्यावापृथिवी किया ही है। परन्तु स्वामी जी ने भी अपने भाष्य में अग्निजलादि पदार्थ अर्थ पितरों का किया है। वह हमारे पक्ष में और भी पुष्ट प्रमाण है, क्योंकि उपलक्षण से हमें द्यावापृथिवी का अर्थ द्यावापृथिवीस्थ पदार्थ करना ही पड़ता। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द, ऋ० १।२०।४ मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं कि—"येऽनलसाः सन्तः सत्यप्रिया आर्जवयुक्ता मनुष्यास्सन्ति **त एवाग्निजलादिपदार्थेभ्य** उपकारं गृहीतुं शक्नुवन्तीति" अर्थात् जो आलस्य को छोड़े हुए सत्य में प्रीति रखने और सरलबुद्धि वाले मनुष्य हैं वे ही **अग्नि और जलादि पदार्थों** से उपकार लेने को समर्थ हो सकते हैं। इस मन्त्र में पितरों को युवा करने का वर्णन है। परन्तु स्वामी जी ने इस मन्त्र के भावार्थ में पितरों का तात्पर्य अग्नि जलादि पदार्थ ऐसा लिया है, और अग्नि जलादि पदार्थों से उपकार लेने की प्रेरणा की है। इसलिये स्वामी जी भी पितरों का अर्थ द्यावापृथिवी में स्थित पदार्थ करते हैं। अतः ऋभुओं के स्वरूप तथा कार्यों को दृष्टि में रखते हुए हमें भी पितरों का अर्थ द्यावापृथिवी करना पड़ा।

पितरों का जीर्ण होना—

ऋभु-सूक्तों में पितरों के दो विशेषण आये हैं। एक 'सनाजुरा' और दूसरा 'शयाना'। 'जुरा' शब्द जॄषवयोहानौ धातु से बना है, जिसका अर्थ है अपनी आयु को छोड़ते जाना अर्थात् परिवर्तनशील होना। पदार्थ का यह गुण है कि वह हमेशा

अपने एक रूप को छोड़कर दूसरा रूप धारण करता जाता है। और अपने असली तथा स्वस्थ रूप को छोड़ना ही वृद्धावस्था है। पदार्थ का दूसरा गुण शयन का है। पदार्थ का परिवर्तनशील गुण नित्य है परन्तु सुप्तावस्था अनित्य है। अर्थात् प्रकृति का कोई पदार्थ अपने रूप में शनैः शनैः परिवर्तित होता हुआ भी जब तक रासायनिक क्रिया द्वारा किन्हीं भिन्न गुणों वाले दो पदार्थों में फट नहीं जाता अथवा किसी पदार्थ से मिल नहीं जाता तब तक वह पदार्थ चाहे द्युलोक का हो या पृथिवीलोक का, सुप्त ही कहलाता है। और जब यह मिश्रणामिश्रण की क्रिया उसमें प्रारम्भ होजाती है, तब वह युवा कहलाता है। पदार्थों का आपस में मिलना या अलग होना ही वैदिक कविता की दृष्टि से युवा होना है, और मिश्रणामिश्रण की प्रक्रिया का न होना ही सुप्तावस्था है। इसलिये इन मन्त्रों में समष्टिरूप से कह दिया है कि यह द्यावापृथिवी अपने रूप में परिवर्तित (सनाजुरा, जरन्तौ) होते हुए भी शयन कर रहे हैं अर्थात् क्षीण होरहे हैं, और सुप्त से पड़े हैं, इनसे कोई उपयोगी काम नहीं लिया जा रहा है। अतः ऋभुओं ने अपने कार्य द्वारा इनमें गति पैदा की, इनको तरोताज़ा किया और उपयोगी बनाया। इसलिये अनादि काल से हमेशा परिवर्तनशील होना और सुप्तावस्था में रहना द्यावापृथिवी में स्थित पदार्थों का ही गुण है। अतएव समष्टिरूप में यहाँ यह कह दिया कि पितर सदा जीर्ण अर्थात् परिवर्तित होते रहते हैं। अतः पितर सामान्य मां बाप नहीं हैं ये द्युलोक और पृथिवीलोक ही हैं।

पितरों का युवा होना—

हम यह देख चुके हैं कि द्युलोक और भूलोक के जीर्ण होने

का क्या तात्पर्य है। अब विचारणीय यह है कि द्युलोक और भूलोक को युवा करने का क्या तात्पर्य है। युवा शब्द 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'मिलना और पृथक् होना'। किसी जीर्ण पदार्थ को युवा बनाने के लिये यही मिश्रणामिश्रण की सामर्थ्य उस पदार्थ में उत्पन्न करनी होती है। ऋभु अपनी रासायनिक क्रियाओं से उस जीर्ण अथवा सुप्त पदार्थ में सामर्थ्य पैदा कर देते हैं जिससे कि वह अपने में से किसी क्षयकारक तथा व्याधिग्रस्त अंश को दूर कर देता है, और पुष्टिकारक तथा श्रीवर्धक अंश का उसमें समावेश हो जाता है। यौवन शब्द जिसका तात्पर्य मनुष्य आदि जीवित प्राणियों की जवानी से है, उसमें भी यही तत्व है। द्यावा-पृथिवी में स्थित पदार्थों में वैज्ञानिक लोग अपनी क्रियाओं से यही सामर्थ्य पैदा कर देते हैं। उनमें मिश्रणामिश्रण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, इसी को युवा करना कहते हैं। समष्टिरूप से भी ये वैज्ञानिक लोग यज्ञादि द्वारा हानिकर पदार्थों के विनाश की तथा रोगनिवारक पदार्थों के समावेश की सामर्थ्य द्युलोक तथा भूलोक में पैदा कर देते हैं, जिससे बड़ी बड़ी बीमारियाँ जो कि ऋतुसन्धियों में राष्ट्र में फैल कर प्रजा का विनाश करती हैं, विनष्ट हो जाती हैं। इसलिये द्युलोक, भूलोक अथवा उनमें स्थित पदार्थों में मिश्रणामिश्रण की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाना ही युवा करना है।

द्यावापृथिवी अर्थ होने से मन्त्रों की सुसंगति—

इस प्रकरण से सम्बन्ध रखने वाले कई मन्त्रों के अर्थ का स्पष्टीकरण भी अत्यन्त आवश्यक है। मन्त्र निम्न है—

सम्मील्य यद्भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः । अशपत यः करस्नं व आददे प्राब्रवीत् प्रो तस्मा अब्रवीतन । ऋ० १।१६१।१२

(सम्मील्य) ऋभुओं ने आपस में मिलकर (यद्भुवना पर्यसर्पत) जब भुवन अर्थात् ब्रह्माण्ड में स्थित पदार्थों का पर्य-वेक्षण किया (तात्या) तो उस समय उनमें विद्यमान (पितरौ) पितृत्व तथा मातृत्व (क्व स्वित् आसतुः) भला कहाँ छिपे रहते । अर्थात् ऋभुओं ने मिल कर जब पदार्थों पर परीक्षण तथा निरीक्षण करना शुरू किया तब पदार्थों का अन्वेषणीय तत्व उनसे भला कहाँ छिपा रहता । (यः) जो पदार्थ (वः करस्नं आददे) तुम्हारा हाथ रोकता है अर्थात् जिस पदार्थ ने उनके हस्तकौशल को रोक दिया, उसके ऊपर वे और भी (अशपत) झुँझला कर पड़ते हैं अर्थात् उसके अनुसन्धान में वे और भी तन, मन, धन से जूझ पड़ते हैं । (प्राब्रवीत्) जिस पदार्थ ने उनके सामने अपने स्वरूप को खोल दिया (प्रोतस्मै अब्रवीतन) उसकी वे बहुत प्रशंसा करते हैं ।

२य मन्त्र—

यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंस-नाभिः । आदिद्देवानामुपसख्यमायन्धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै । ऋ० ४।३३।२

(यदा) जब (ऋभवः) ऋभुओं ने (पितृभ्यां) पितरों से अर्थात् पदार्थों से (परिविष्टी) पदार्थ में सर्वतो व्यापि ज्ञान से प्रवेश कर (वेषणा) और उनको राष्ट्र में फैला कर (दंसनाभिः) और उनसे उत्तम उत्तम कार्य लेकर (अरमक्रन्)

राष्ट्र को अलंकृत किया तब (आदित्) उसके अनन्तर ही (देवानां) देवताओं के वे ऋभु (सख्यमुपायन्) मित्रभाव को प्राप्त हुए। वे (धीरासः) धीर हैं (मनायै) अपने ज्ञान से (पुष्टिमवहन्) राष्ट्र की पुष्टि करते रहते हैं।

उपर्युक्त मन्त्र में तीन कर्म बताये गये हैं, जिनके करने से ऋभु राष्ट्र को अलंकृत कर देते हैं और देवताओं के मित्र बनते हैं। वे कर्म निम्न हैं—

१. परिविष्टी—'परिपूर्वक विशप्रवेशने' सर्वतो व्यापि विद्या के द्वारा पदार्थ में अच्छी तरह से प्रवेश करना। उस पदार्थ का पर्यवेक्षण करना।

२. वेषणाः—'विष्लृव्याप्तौ' जब एक नया पदार्थ बन कर तय्यार हो गया तो उसका जाल सारे राष्ट्र में फैला देना।

३. दंसनाभिः—उस राष्ट्र-व्यापी पदार्थ से नये नये उत्तम कार्य लेना।

१६. चमस

चमस के सम्बन्ध में ऋभुओं को आज्ञा दी गई है कि "एकं चमसं चतुरः कृणोतन" ऋ० १।१६१।१ अर्थात् एक चमस के चार विभाग करो। अब विचारणीय विषय यह है कि यह चमस क्या चीज़ है? और इसको चार में विभक्त करने का क्या तात्पर्य है?

वैदिक साहित्य में चमस के कई अर्थ माने जाते हैं। परन्तु याज्ञिक प्रकरण में चमस से तात्पर्य स्रुवा से होता है। जिसके द्वारा यज्ञ में घी डाला जाता है। सायण ने भी यहाँ चमस का अर्थ काष्ठ की बनी स्रुवा (चम्मच) ही किया है।

निरुक्त में भी चमस की यह व्युत्पत्ति दी है कि "चमन्त्यस्मिन्निति" अर्थात् जिसमें भक्षण करें। इस प्रकार चमस का अर्थ भक्षण का साधन स्रुवा ही किया है। दुर्गाचार्य ने भी अपने निरुक्त भाष्य में "चम्यन्ते अनेन रसाः" अर्थात् जिससे रसों का भक्षण किया जाये ऐसा अर्थ दिया है। श० प० ब्रा० १।४।२।१४ में भी "चमसेन ह वा एवेन भूतेन देवा भक्षयन्तीति" अर्थात् चमस के द्वारा देवता लोग भक्षण करते हैं। इस प्रकार चमस को देवताओं का भक्षण का साधन बताया गया है। हमने भी राष्ट्रिय-यज्ञ के प्रकरण में चमस का अर्थ भक्षण का साधन स्रुवा ही किया है। परन्तु विचारणीय यह है कि इस राष्ट्रिय-यज्ञ के लिये ऋभु-सूक्तों से कैसी स्रुवा का निर्देश मिलता है।

इससे पहिले कि हम राष्ट्रिय-दृष्टि से चमस का अर्थ निर्धारित करें, अन्य क्षेत्रों में भी चमस के ऊपर विचार कर लेना चाहिये। इससे हमें राष्ट्रिय-दृष्टि से चमस के अर्थ का निर्धारण करने में पर्य्याप्त सहायता मिलेगी। सबसे प्रथम हम आधिदैविक क्षेत्र में चमस का स्वरूप-निरूपण करते हैं।

आधिदैविक क्षेत्र—

चमस के आधिदैविक स्वरूप का निरूपण करने के लिये पहले हमें आधिदैविक दृष्टि से ऋभुओं के स्वरूप पर भी संकेत करना पड़ेगा। आधिदैविक दृष्टि से ऋभु आदित्य की रश्मियों को कहते हैं। जैसा कि पहिले निरुक्त के प्रमाण से दर्शाया जा चुका है कि "आदित्य रश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते" अर्थात् आदित्य की रश्मियां भी ऋभु कहलाती हैं। इस प्रकार आधिदैविक क्षेत्र

में आदित्य अर्थात् सूर्य की किरणों को ऋभु कहते हैं। अब हम इसी क्षेत्र के आधार पर चमस का स्वरूप-निरूपण करते हैं।

चमस नाम कई पदार्थों का है। स्रुवा, अन्न, मेघ, तथा सिर इत्यादि ये सब चमस नाम से कहे जाते हैं। परन्तु किस स्थल पर चमस का क्या अर्थ लेना है, यह प्रकरण तथा क्षेत्र-भेद से ही निर्णीत हो सकता है। क्षेत्र-भेद को दृष्टि में रखते हुए चमस का आधिदैविक अर्थ मेघ करना होगा। चमस का अर्थ मेघ होता है, यह निघण्टु में परिगणित मेघ की शब्द-सूची में देखा जा सकता है। महर्षि दयानन्द ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में ऋभुसूक्तों के अन्दर कई स्थलों पर चमस का अर्थ मेघ किया है। उदाहरण के तौर पर ऋ० १।१६१।२,४ मन्त्र देखे जा सकते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्र—

आध्यात्मिक क्षेत्र में चमस का अर्थ सिर होता है। श० प० ब्रा० (१४।४।२ ब्रा०) "तिर्यग्बिलश्चमसः" का पाठान्तर "अर्वाग्बिलश्चमसः" देते हुए चमस को सिर माना है। इस मन्त्र की स्कन्द स्वामी कृत व्याख्या भी अवलोकनीय है। वह इस प्रकार है—

"अथाध्यात्मम्। तिर्य्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः शिर इहाभिप्रेतम्। तिरश्चीनानि बिलानि चक्षुरादि यस्मिन्। आहारस्य चमनात्। ऊर्ध्वं च कायस्य बन्धनस्थानात् ऊर्ध्वं च बोधकं चक्षुरादि यस्मिन्। यस्मिन् यशो निहितमिन्द्रियजन्यं विज्ञानं निहितम्। विश्वरूपं बहु प्रकारम्। अत्रासते ऋषयः सप्तार्षणानि सप्तेन्द्रियाणि। साकं ये अस्य गोपाः सह यान्यस्य शरीरस्य

शरीरिणो वा गोप्तॄणि महान्तो भवन्ति ।" अर्थात् अध्यात्म क्षेत्र में चमस शिर को कहते हैं. जिसका मूल ऊपर को है। चक्षु आदि उसके बिल हैं। शरीर के ऊपरले हिस्से में यह स्थित है। अथवा चक्षु आदि ज्ञानग्राहक-इन्द्रियाँ शरीर के ऊपरले हिस्से में विद्यमान हैं, जिसमें इन्द्रियोत्पन्न-विज्ञान भरा पड़ा है, और वह विज्ञान नाना प्रकार का है। और इस शरीर में विद्यमान सात ऋषि (इन्द्रियां) इस शरीर के रक्षक हैं।

इस प्रकार श० प० ब्रा० और स्कन्द स्वामी की व्याख्या से भी यही सिद्ध है कि अध्यात्म दृष्टि से चमस का अर्थ सिर होता है।

अधिराष्ट्रिय क्षेत्र—

अब हम अधिराष्ट्र में चमस के अर्थ का निरूपण करते हैं। अध्यात्म में चमस का अर्थ सिर होता है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। अधिराष्ट्र में भी हमने चमस का अर्थ सिर ही किया है। भेद केवल इतना ही है कि वहां उपलक्षण से सिर से नाना भाँति की दिमागी ताकत वाले पुरुषों का ग्रहण किया गया है। क्योंकि मनुष्यों का वेदादि-शास्त्र-निर्दिष्ट विभाग गुणों के आधार पर ही होता है। इसलिये राष्ट्र में जहाँ मनुष्यों का विभाग किया जायेगा वहाँ दिमागी ताकत या गुणों के आधार पर ही किया जायगा। इस प्रकार से मनुष्यों का चार में विभाग एक प्रकार से दिमागी ताकत का विभाग मानना चाहिये।

अब हम ऋभु सूक्तों में आये प्रमाणों की भी छान-बीन करते हैं कि वे चमस के सम्बन्ध में क्या कहते हैं।

ऋ० ४।३५।४ में एक मन्त्र आता है। वह इस प्रकार है—

"किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो विचक्र" ।

अर्थात्—यह चमस किस चीज का बना हुआ है, जिसको 'काव्य' अर्थात् वेदादि ज्ञान द्वारा चार में विभक्त करना है। "काव्य" परमात्मप्रदत्त वेद-ज्ञान को कहते हैं। जैसा कि अथर्व० १०।८।३२ में कहा है कि **"देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"** अर्थात् उस देवाधिदेव परमात्मा के काव्य को देखो जो कभी मरता नहीं और कभी जीर्ण नहीं होता।

यदि सायण के अनुसार यह लकड़ी की स्रुवा होती तो उसे चार में विभक्त करने के लिये परमात्मा के दिये काव्य की क्या आवश्यकता थी? अथवा काव्य का यह भी भाव हो सकता है कि कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी ऋषि महर्षियों से प्रतिपादित ज्ञान। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिये ऋ० ६।४७।३ में ऋभुओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि **"कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त"** अर्थात् कवि (क्रान्तदर्शी) ऋषि महर्षियों के ऋत (ज्ञान, विज्ञान) से ऋभु लोग चमस को प्रेरित करते हैं। अगला मन्त्र भी इसी बात की पुष्टि करता है। मन्त्र इस प्रकार है—

"व्यकृणोत चमसं चतुर्धा सखे विशिक्ष इत्यब्रवीत"

ऋ० ४।३५।३

अर्थात्—हे सखे! चमस के चार विभाग करो। ऐसा कहने का तात्पर्य है कि नानाभाँति की शिक्षाएँ दो। इस मन्त्र में 'विशिक्ष' शब्द इस भाव को अत्यन्त स्पष्ट कर रहा है कि चमस को चार में विभक्त करने का तात्पर्य नानाभाँति की शिक्षा से है। अर्थात् नानाभाँति की शिक्षा देकर बड़े बड़े मस्तिष्क वाले व्यक्ति राष्ट्र के लिये तय्यार करने हैं। इस प्रकार इन

मन्त्रों से शिक्षा देने का भाव स्पष्ट झलक रहा है। इसलिये चमस के अर्थों में मस्तिष्क अर्थ ही यहां घट सकता है।

चमस के चार विभाग—

ऊपर हमने राष्ट्रिय दृष्टि से चमस का विवेचन किया। अब हम यह देखना चाहते हैं कि चमस के चार विभाग करने का क्या तात्पर्य है? ऋभुसूक्तों में चमस के सम्बन्ध में कई ऐसे मन्त्र आते हैं, जो चमस को चार में विभक्त करने का वर्णन करते हैं। उनमें से कुछ मन्त्र हम नीचे दिये देते हैं—

१. उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः। ऋ० १।२०।६

अर्थात्—त्वष्टादेव से संस्कृत नये चमस के फिर चार विभाग करो।

२. त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्। ऋ० १।११०।३

अर्थात्—असुर (प्रज्ञा) के भक्षण के साधन उस चमस को, और एक होते हुए को चार में व्याप्त करो।

३. एकं चमसं चतुरस्कृणोतन। ऋ० १।१६१।२

अर्थात्—एक चमस के चार विभाग करो।

४. सुकृत्यया यत्स्वपस्यया च एकं विचक्र चमसं चतुर्धा। ऋ० ४।३५।२

उत्तम रचनाशक्ति से तथा उत्तम क्रियाकौशल से एक चमस के ऋभुओं ने चार विभाग कर दिये।

५. एकं विचक्र चमसं चतुर्वयम्। ऋ० ४।३६।४

अर्थात्—एक चमस को चार में व्याप्त कर दिया।

इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों में चमस को चार में विभक्त करने का वर्णन किया गया है। हम ऊपर यह देख ही चुके हैं कि राष्ट्रीय दृष्टि से चमस मस्तिष्क को कहते हैं। अब विचारणीय यह है कि इस मस्तिष्क के चार विभाग कौन से हो सकते हैं? इसके लिये पहिले हमें अन्य क्षेत्रों में भी संक्षेप में चमस के चार विभागों पर विचार कर लेना चाहिये।

आधिदैविक—

हम ऊपर यह दर्शा चुके हैं कि आधिदैविक क्षेत्र में चमस मेघ को कहते हैं, क्योंकि सूर्यरश्मियों के द्वारा अन्तरिक्षमें लाये हुए जल को पृथिवी पर बरसाने में मेघ चमचे का काम देता है। अब यदि "तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" इस मन्त्र के तात्पर्य को सामने रखते हुए "एकं चमसं चतुरः कृणोतन" इस मन्त्रांश पर विचार करें तो आधिदैविक क्षेत्र में चमस को चार विभागों में विभक्त करने का तात्पर्य अच्छी तरह समझ में आ जाता है। वह तात्पर्य यह है कि मेघ को चार दिशाओं में विभक्त करके बरसाना। इसी बात को इन दोनों मन्त्रों में अलंकार रूप में दिखा दिया गया है। वह अलंकार इस प्रकार है—मेघ एक स्रुवा (चमचा) है जिसका मुँह तिरछा है, या शतपथ ब्राह्मण के अनुसार (अर्वाग्) नीचे की ओर है। और उसका हत्था (Handle) सूर्य ने अपनी रश्मी अर्थात् अंगुलियों के द्वारा पकड़ा हुआ है। त्वष्टा (आदित्य) के बल से ऋभु अर्थात् आदित्य की रश्मियाँ समुद्ररूपी पात्र में से जलरूपी घृत खींच कर अन्तरिक्ष में लाती हैं, और मेघ रूपी चमचे के द्वारा चारों दिशाओं में बरसा देती हैं। आधिदैविक

क्षेत्र में चमस को चार विभागों में विभक्त करने का यही तात्पर्य है।

आध्यात्मिक—

अब हम आध्यात्मिक क्षेत्र में चमस के चार विभागों पर विचार करते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में हमने चमस का अर्थ श० प० ब्रा० के अनुसार मस्तिष्क किया है। अध्यात्म क्षेत्र में हमारा पिण्ड (शरीर) ही भूमि है, इसमें मस्तिष्क सप्तेन्द्रियों से एकत्रित ज्ञानधाराओं की वर्षा कर रहा है। अथवा—

"ये त्रिःषप्ता परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे। अथर्व १।१।१

इस मन्त्र में जो शरीर को उद्देश्य करके ज्ञानपति परमात्मा से प्रार्थना की है कि वह सब भूतों का बल हमारे शरीर में धारण करावे। इसी बात को पिण्ड में इस प्रकार से दिखा दिया गया है कि वह ज्ञान का भण्डार मस्तिष्क, इन्द्रियों द्वारा शरीरोपयोगी तथा लाभप्रद पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके शरीर में वर्षा रहा है। इस प्रकार शरीररूपी भूमि में ज्ञानधाराओं के बरसाने के कारण अथवा शरीरोपयोगी और लाभप्रद पदार्थों को शरीर में बरसाने के कारण मस्तिष्क भी एक चमचा है।

अधिराष्ट्र—

ऊपर अध्यात्म क्षेत्र में चमस को चार भागों में विभक्त किया। इसी प्रकार अधिराष्ट्र पक्ष में भी चमस के चार विभाग करने हैं। इसलिये सबसे प्रथम विचारणीय यह है कि राष्ट्र की चार दिशाएँ कौन-सी हैं? वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् पं० बुद्धदेव

जी विद्यालङ्कार ने शतपथ-ब्राह्मण के भाष्य में राष्ट्र की चार दिशाएँ इस प्रकार बतायी हैं--

यजु० अ० १० में आता है कि—

प्राचीमारोह=ब्रह्म द्रविणम् । यजु० १०।१०

दक्षिणामारोह=क्षत्रं द्रविणम् । यजु० १०।११

प्रतीचीमारोह=विड् द्रविणम् । यजु० १०।१२

उदीचीमारोह=फलं द्रविणम् । यजु० १०।१३

इनका तात्पर्य निम्न है—

राजसूय यज्ञ में राज्याभिषेक करते हुए दिगावरोहण के अवसर पर यह पढ़ा जाता है कि हे राजन्! तू पूर्व दिशा पर आरूढ हो।

इस प्रकार पढ़कर कहा जाता है कि तू ब्राह्मणरूपी धन का मालिक हो, अर्थात्, ब्राह्मणों का स्वामी बन। इसी प्रकार दक्षिण दिशा का धन क्षत्रिय, पश्चिम का वैश्य, और उत्तर दिशा का फल अर्थात् शूद्र। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्म, क्षत्र तथा विट् के साहचर्य से फल का यहाँ अर्थ फल को उठानेवाला शूद्र करना होगा। फल को पैदा करने वाला नहीं। इस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में पूर्वपश्चिमादि दिशाएँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि ही;हैं। इसलिये चमस अर्थात् मस्तिष्क को ब्राह्मणादि दिशाओं में विभक्त करना है।

अब हम ऋभु सूक्तों में आये मन्त्रों के आधार पर विचार करते हैं।

चमस को चार विभागों में विभक्त करने के सम्बन्ध में

ऋभुसूक्तों में एक मन्त्र आता है जो इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत।

ऋ० १।१६१।६

अर्थात्—शिक्षा द्वारा ऐसे दिमाग़ वाले पुरुष तय्यार किये जायें जो "आपः" सर्वत्र व्यापक जल के समान व्यापक गुणों वाले तथा शान्त-मुद्रा वाले हों, किन्हीं में अग्नितत्व के समान ओज और तेज आदि गुण हों, किन्हीं में भूमि सम्बन्धी कामनायें अर्थात् वैश्यवृत्ति के गुण हों। इस प्रकार इन तीन प्रकार के गुणों को धारण करने वाले ये तीनों व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहे जा सकते हैं। अवशिष्ट चौथा शूद्रकोटि में आ जायेगा। चौथा इसलिये नहीं गिनाया गया प्रतीत होता है, क्यों कि शिक्षा के द्वारा शूद्रकोटि के आदमी तो पैदा होते ही रहते हैं। परन्तु, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को पैदा करना बहुत मुश्किल काम है। ये तो पैदा किये जाते हैं, इसी लिये इन्हें द्विज कहते हैं। शूद्र तो स्वयं सिद्ध होता है, वह पैदा नहीं किया जाता। अथवा इस मन्त्र का यह भी भाव हो सकता है कि शिक्षा के द्वारा ऐसे मस्तिष्क वाले व्यक्ति तय्यार किये जाएँ जो कि जलीय-तत्व वाले पदार्थों का ज्ञान रखने वाले हों, या अग्नि-तत्व का ज्ञान रखने वाले हों, या भूमि-सम्बन्धी सब ज्ञान, विज्ञानों को जानने वाले हों। इस प्रकार ऋत अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान देते हुए उन्होंने चमस के चार विभाग कर दिये। ये तीन अपनी अपनी विद्याओं के विशेषज्ञ हो सकते हैं। चौथा विशेषज्ञ न होकर साधारण नागरिक ही

हो सकता है। क्यों कि शिक्षा के द्वारा साधारण नागरिक तो पैदा हो ही जाता है। इस प्रकार चमस के ये उपर्युक्त चार विभाग भी हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि राष्ट्र की दिमाग़ी ताक़त को वेद के अनुसार चार विभागों में विभक्त किया जाना चाहिये। वे चार विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो सकते हैं। या तीन विद्याओं के विशेषज्ञ और एक साधारण नागरिक। महर्षि दयानन्द ने भी ऋ० ४।३६।४ के भाष्य में चमस को चार में विभक्त करने का तात्पर्य, मनुष्य-जाति को चार विभागों में विभक्त करने का लिया है। वे लिखते हैं कि, (चमसम्) मेघों के सदृश विभक्त (चतुर्वयम्) चार हम लोग। इस प्रकार राष्ट्र के लिये ये चार प्रकार के व्यक्ति तय्यार किये जाने चाहियें।

ऋभुओं के गुरु त्वष्टा ने उस नये चमस को रूप दिया अर्थात्—चमस को चार रूपों में विभक्त करने के लिये चार नये (Design) बनाये, और इस रूप (Design) के अनुसार चमस को श्रेणी-विभाजन करने के लिये ऋभुओं को आज्ञा दी कि इस चमस के चार विभाग कर दो। त्वष्टा का एक काम रूप (Design) बनाना और उसके अनुसार श्रेणी-विभाजन करने का भी है।

अर्थात्—त्वष्टा शिक्षणालयों से निकले नव स्नातकों के दिमागों का निरीक्षण करता है। और जो दिमाग़, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से जिस श्रेणी के योग्य होता है, उसमें श्रेणी-विभाग (Classification) करके ऋभुओं को सौंप देता है। और इन चार में यज्ञदीक्षा (Training) देने के लिये आज्ञा दे देता है।

चमस के सम्बन्ध में आये कुछ मन्त्रों से एक यह भी बात पता चलती है कि यहाँ अग्नि (संकल्प) का भी एक विशेष सम्बन्ध है। इस अग्नि के ऊपर विचार करने से यही पता चलता है कि जब तक अग्नि अर्थात् पूर्ण-संकल्प न होगा, तब तक चमस के चार विभाग नहीं हो सकते। त्वष्टा जब चमस के चार रूप देता है तो, उनमें संकल्प रूपी अग्नि भर देता है। अर्थात्—वे नवस्नातक यज्ञदीक्षा (राष्ट्र में प्रवेश करने के लिये Training) में संकल्प-रूपी अग्नि को धारण करके शामिल होते हैं। और इस ही अग्नि, पूर्ण लगन, तथा सत्संकल्प के कारण ऋभुओं को उन्हें यज्ञदीक्षा देने में बहुत सहायता मिलती है। इसी लिये अग्नि को ऋभुओं का सहायक कहा गया है। इसी चीज को मन्त्र में उपाख्यान के रूप में इस प्रकार दर्शाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन् किमीयते दूत्यङ्कद्यदूचिमः। न निन्दिम चमसं यो महाकुलो ऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम। ऋ० १।१६१।१

इस मन्त्र का सायण भाष्य इस प्रकार है—

ऋभवो नाम सुधन्वनस्त्रयः पुत्राः ऋभुर्विभ्वावाज इति तेच मनुष्याः सन्तः सुकर्मणा देवत्वं प्राप्य कदाचित् कर्मकाले सोमपानाय प्रवृत्ताः, तान्प्रति देवैः प्रेरितोऽग्निः परस्परसमानरूपान्दृष्ट्वा स्वयमपि तदाकारं धृत्वा तेषु मध्ये स्वयं चतुर्थः सन् पातुं प्रवृत्तः। ते च ऋभवः आगतं तं समानरूपमवलोक्य विवेक्तुमसमर्थाः परस्परमेवं संदिहते-अयं किमु श्रेष्ठः किं नु खलु अस्मत्तोऽयं प्रशस्यतमः वयसा श्रेष्ठः सोऽस्मान् आजगन् अगमत्

प्राप्तः। किं यविष्ठः किं वा नः अस्माकं युवतमः अस्मत्तः कनीयान्-आजगन् प्राप्तः किं वा दूत्यं दूतकर्म देवसम्बन्धि ईयते गच्छति देवैः प्रेरितो दूतोऽस्मानागतो वा यदूचिम यदेतद्ब्रूमः तत्कथं निश्चेतव्यमित्यर्थः वयं तावत्त्रय एव इदानीं चत्वारः समानरूपा वर्तामहे तस्मादयमधिकः किमु श्रेष्ठः इति विचिकित्सा एवं संदिह्य कथंचित् स्वतोऽन्यं निश्चित्य तं प्रत्यपरोक्षेण ब्रुवते—हे अग्ने भ्रातः भ्रातृवत् भागार्ह भ्राता यथा बलात् स्वकीयं भागं स्वीकरोति तद्वत् समानरूपमाश्रित्य बलाच्चमसपानाय प्रवृत्ता इति भ्रातरित्युक्तं हे तादृशाग्ने चमसं न निन्दिम अधिकः समागत इति पानमकृत्वा चमसं न दूषयामः यश्चमसो महाकुलः महाकुलोत्पन्नः त्वष्टानिर्मितत्वात्" अर्थात् सुधन्वा के तीन पुत्र ऋभु, विभ्वा, और वाज उत्तम कर्मों के करने से देवत्व को प्राप्त करके कभी कर्म करने के समय सोमपान के लिये प्रवृत्त हुए। तब उनके पास देवों से भेजी हुई अग्नि उनको आपस में एक रूप देखकर अपने आप भी वैसा ही रूप धारण करके उनके बीच में चौथा होकर सोमपान के लिये प्रवृत्त हुई। वे ऋभु आये हुए, उसको अपने समान रूप वाला देख कर परस्पर विवेक करने में असमर्थ हो गये, और इस प्रकार संदेह करने लगे कि क्या यह हमसे आयु में श्रेष्ठ है? अथवा हमसे छोटा है। क्या यह देवों से भेजा हुआ दूत है? इसको क्या कहना चाहिये इसका किस प्रकार निश्चय करें। किसी प्रकार उस अग्नि को अपने से अलग निश्चय करके वे उससे कहते हैं। हे भ्रातर अग्ने! क्यों कि तू ज्यादः आ गया है, इस लिये बिना सोमपान किये हम उठ जावें—इस प्रकार चमस की निन्दा हम नहीं करते। क्यों कि त्वष्टा से निर्मित होने के कारण यह चमस महाकुलोत्पन्न है।

यह एक आलंकारिक वर्णन है। इस वर्णन में अग्नि का संकल्पाग्नि अर्थ करने पर इस अलंकार की व्याख्या कैसे सुन्दर रूप में हो जाती है।

अर्थात्—शिक्षणालयों से शिक्षा प्राप्त करके जब स्नातक समाज में आवें तो राष्ट्र का अधिकारी त्वष्टा पहिले उनका निरीक्षण करे और जिस-जिस महकमें अर्थात् वर्ण के अनुसार जिस-जिस कार्य के योग्य जो-जो निकले उसको वैसी ही यज्ञ-दीक्षा (Training) देने के लिये ऋभुओं को सुपुर्द कर देवें। त्वष्टा से पैदा की हुई संकल्पाग्नि को धारण करके वे ऋभुओं से यज्ञदीक्षा लेने लगे। अर्थात् प्रत्येक स्नातक के अन्दर यह संकल्पाग्नि प्रज्वलित हुई-हुई है कि मैंने (१) अमुक वर्ण में जाना है (२) अथवा अमुक विषय का ज्ञाता बनना है। यदि यज्ञदीक्षा के प्रारम्भ में ऋभुओं को यह प्रतीत होने लगे कि अमुक स्नातक इस वर्ण के योग्य नहीं है, अथवा इसमें नहीं चल सकता, और उसकी निन्दा करने लगें कि तू इसके योग्य नहीं; तुझे यह क्षेत्र छोड़ देना चाहिये—इत्यादि निन्दा-बोधक वाक्य उसके प्रति कहें तो यह ठीक नहीं। क्योंकि एक तो वह विषय, उनसे भी योग्य उनके गुरु त्वष्टा ने उन्हें सुपुर्द किया है। और दूसरे उनमें संकल्पाग्नि काम कर रही है। संकल्प के सामने कोई भी चीज कठिन नहीं रहती। शिक्षा में संकल्प गुरु के समान कार्य करता है। अतः तीनों ऋभुओं के समान ही संकल्प भी एक प्रकार से गुरु है। तभी तो यह कहा कि वे परस्पर एक रूप वाले हैं, और अग्नि ने भी वैसा ही रूप धारण कर लिया है। अर्थात् वे तीनों गुरु हैं, अतः यह अग्नि भी वैसा ही गुरु है, गुरुपना इनका समान-रूप है। इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि

त्वष्टा ने चमस की परीक्षा तथा निरीक्षा करके उसके चार प्रकार के विभाग बनाये और उनमें संकल्पाग्नि भरकर ऋभुओं को चार में यज्ञदीक्षा (Training) देने के लिये सुपुर्द कर दिये। ऋभुओं ने संकल्प की सहायता से सबको यज्ञदीक्षा दी और चार भागों में विभक्त कर दिया।

जब चमस को चार में विभक्त कर दिया तब उनका संकल्प भी पूरा हो गया। इसलिये वे ऋभु अब कहते हैं कि—

चक्रवांस ऋभवस्तदपृच्छत क्वेदभूद्यः स्य दूतो न आजगन्।

ऋ० १।१६१।४

अर्थात्—जब वे ऋभु अपने कामों को समाप्त कर चुके तब पूछते हैं कि जो दूत हमारे पास आया था, वह अब कहाँ है? इसका तात्पर्य यही है कि कार्य समाप्त हो जाने पर संकल्पाग्नि भी पूरी हो गई। जिस कार्य के लिये संकल्पाग्नि धारण की थी, उस कार्य के पूरा हो जाने पर वह भी समाप्त हो गई। इसी बात को उपर्युक्त मन्त्र में इस रूप में कह दिया गया है कि वह अग्निदूत कहाँ गया, इसके अनन्तर मन्त्र में कहा गया है कि—

'यदावाख्यच्चमसाश्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा ग्नास्वन्तर्न्यानजे'।

ऋ० १।१६१।४

अर्थात्—जब त्वष्टा ने चमस के चार विभाग देखे, इसके अनन्तर ही वह अपने को स्त्री समझने लगा।

इसका तात्पर्य हमें स्पष्ट समझ में आजायेगा, यदि हम त्वष्टा के स्वरूप पर ज़रा गौर करें। त्वष्टा के सम्बन्ध में लिखते हुए हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि त्वष्टा उत्पत्ति-शास्त्र का विद्वान् है। जिस प्रकार उत्पत्ति में स्त्री का बहुत बड़ा हिस्सा

होता है, उसी प्रकार त्वष्टा का भी है। एक प्रकार से त्वष्टा को भी हम स्त्री ही कह सकते हैं। इसी बात को दर्शाने के लिये कि चमस की उत्पत्ति ठीक हो गई, और वह चार में भी विभक्त हो गया तो इस उत्तम उत्पत्ति में त्वष्टा ही कारण है। इसलिये उसे भी एक प्रकार से स्त्री ही कह दिया गया है। इसी चमस के सम्बन्ध में आगे कहा गया है कि—

हनामैनां इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः। अन्या नामानि कृण्वते सुते सचां अन्यैरेनान् कन्या नामभिः स्परत्। ऋ० १।१६१।५

अर्थात् जो ऋभु देवपान चमस की निन्दा करेंगे, उनको मारा जायेगा।

इस मन्त्र के पूर्वार्ध का तात्पर्य तो समझ में आजाता है परन्तु उत्तरार्ध का तात्पर्य समझ में नहीं आता। इसपर विद्वान् आदमी विचार करें। इस प्रकार हमने यहाँ अग्निदूत से तात्पर्य संकल्पाग्नि से लिया है। परन्तु कई यह शंका कर सकते हैं कि अग्नि से संकल्पाग्नि का ग्रहण कैसे किया? इसके उत्तर में हम ऋ० १०।१६ सू० का प्रमाण उपस्थित करते हैं। वहाँ चिन्ता आदि मनुष्य के शरीर को खाने वाली अग्नियों का वर्णन आता है। और उत्तम श्रेष्ठ अग्नि के धारण करने का भी वर्णन आता है। इसी सूक्त में अग्नि से कहा गया है कि तू चमस को कुटिल मत बना देना। इससे पता चलता है कि ऋभुसूक्तों में चमस के साथ जो अग्नि का वर्णन है, वह भी, चिन्ता आदि के समान ही मानसिक अग्नि होगी। इस सूक्त में चमस के सम्बन्ध में मन्त्र इस प्रकार है। **"इममग्ने चमसं या विजिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्"** ऋ०

१०।१६।८ अर्थात् हे शोकाग्नि ! इस चमस को कुटिल मत बना क्योंकि यह दिव्य इन्द्रियों का और सौम्य भावों का प्यारा है। सायण ने इस सूक्त में आयी अग्नि को प्रेताग्नि माना है. जो कि ठीक नहीं। क्योंकि ऋ० १०।१६।१ के भाष्य में जो उसने लिखा है कि "हे अग्ने एनं प्रेतं मा विदहः विशेषेण दग्धं भस्मीभूतं माकुरु माभिशोचः अभितः शोकेन संतापेन युक्तं मा कुरु।" अर्थात हे प्रेताग्नि तू इस मृतक शरीर को मत जला और इसे शोक से संतप्त मत कर। यह वर्णन प्रेताग्नि का नहीं हो सकता। क्योंकि प्रेताग्नि को कोई यह नहीं कहता कि तू मृतक शरीर को मत जला, वहाँ तो मृतक-शरीर को जलाना ही अभीष्ट होता है। यह वर्णन तो मानसिक शोकाग्नि का है। शोकाग्नि भी शरीर को जलाती है। ५वें मन्त्र में आता है कि—

आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः।

इसका सायणभाष्य इस प्रकार है—"अयं प्रेत आयु-र्जीवनं वसान आच्छादयन् आयुषा युक्त इत्यर्थः। शेषः शिष्य-माणमस्थिलक्षणं यजनीयं शरीरं उपवेतु उपगच्छतु। हे जातवेदः! तव प्रसादात् तन्वा शरीरेण संगच्छतां संगतो भवतु।" अर्थात्-यह प्रेत आदमी आयु से युक्त हो। अस्थि वाले शरीर को प्राप्त होवे। हे जातवेद! तेरी कृपा से यह शरीर के साथ संगत होवे।

यह उपर्युक्त वर्णन प्रेत आदमी के लिये नहीं होसकता। मृत व्यक्ति क्या तो आयु से युक्त होगा ? और क्या शरीर को प्राप्त होगा ? मृतक शरीर के लिये तो अन्तिम विधि यही है कि उसे जला देना। और जो यहाँ पर आयु की प्रार्थना तथा शारीरिक अंगों के स्वास्थ्य की प्रार्थना है, वह उस अग्नि से है जो कि शोकाग्नि के विपरीत अग्नि है। शोकाग्नि सारे शरीर को जला

देती है। शोकातुर मनुष्य कभी भी स्वस्थ नहीं हो सकता। इस लिये यहाँ जातवेद अग्नि से प्रार्थना है कि–'हे जातवेद! शोकाग्नि से जो मेरी आयु घट गई है, और शरीर में क्षीणता आगई है, उसे तू पूरा कर। इसी बात को मद्दे नज़र रखते हुए १०वें मन्त्र में कहा है कि—"**योऽग्निःक्रव्यात् प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्**" अर्थात जो मांस खाने वाली अग्नि हमारे घर में प्रविष्ट हो गई है, उसको मैं घर से बाहर निकालता हूँ। क्या करता हुआ! इस दूसरी जातवेद अग्नि को देखता हुआ अर्थात् हमारे घर में किसी कारण जो शोकाग्नि प्रविष्ट हो गई है, उसको हम जातवेद अग्नि के द्वारा बाहर निकाल देते हैं।

यह वर्णन स्पष्ट ही शोकाग्नि तथा इसके विपरीत मानसिकाग्नि का है। एक अग्नि को निकाल कर दूसरी धारण करना इस बात का द्योतक है कि ये मानसिक अग्नियाँ हैं। प्रेताग्नि तो साधारण भौतिक अग्नि होती है। और दूसरे इस धारणीय जातवेद अग्नि को ११वें मन्त्र में "क्रव्यवाहनः" कहा है अर्थात मांस का वहन करने वाली। इस प्रकार एक मांस खाने वाली इसके विपरीत दूसरी मांस बढ़ानेवाली—अग्नियाँ स्पष्ट तौर पर मानसिक अग्नियाँ ही हैं। इसलिये चमससम्बन्धी मन्त्र में शोकाग्नि से प्रार्थना है कि हे अग्ने! तू चमस अर्थात् दिमाग को कुटिल मत बना। शोक के कारण मनुष्य का दिमाग कुटिल तथा कुण्ठित हो जाता है। इस सूक्त में चमस के साथ मानसिक अग्नि का वर्णन है। इसलिये ऋभु सूक्तों में चमस के सम्बन्ध में आयी अग्नि भी मानसिक ही है।

इसलिये संक्षेप में चमस को चार में विभक्त करने का तात्पर्य यह हुआ कि राष्ट्र में त्वष्टा के अधीन एक ऐसा मह-

कमा होना चाहिये, जहाँ कि शिक्षणालयों से शिक्षा प्राप्त करके निकले हुए स्नातक राष्ट्र में काम पर लगने से पहिले यज्ञदीक्षा (Training) ले सकें। और यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि वैदिक राष्ट्र में व्यवसाय चार में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ व्यवसाय ब्राह्मणों के सम्बन्ध में, कुछ क्षत्रियों के सम्बन्ध में तथा कुछ वैश्यों और कुछ शूद्रों के सम्बन्ध में होते हैं। इन्हीं व्यवसायों में लगाने के लिये शिक्षा प्राप्त करके शिक्षणालयों से निकले हुए स्नातकों को यज्ञदीक्षा दी जाती है। अर्थात् उनके दिमागों में ऐसी शिक्षा भरी जाती है जिससे वे सच्चे ब्राह्मण, सच्चे क्षत्रिय, सच्चे वैश्य और सच्चे शूद्र बनकर राष्ट्र की सेवा करें। यज्ञदीक्षा देने से पहिले त्वष्टा सबके दिमागों की परीक्षा लेता है और जिसका दिमाग जिस वर्ण के योग्य होता है, उसमें ही यज्ञदीक्षा देने के लिये ऋभुओं को आज्ञा देता है। ऋभु उन्हें उसी प्रकार की यज्ञदीक्षा दे देते हैं। उनकी यह सामर्थ्य नहीं कि वे ब्राह्मण को वैश्य की उपाधि दे देवें और वैश्य को ब्राह्मण की। त्वष्टा के अनुसार ही उन्हें यज्ञदीक्षा देनी पड़ती है।

देवपान चमस—

चमस को कई स्थलों पर देवपान भी कहा गया है। देवपान शब्द चारों वेदों में कुल ७ मन्त्रों में आता है। इन मन्त्रों में भी यह शब्द पाँच स्थलों पर चमस के सम्बन्ध में आया है। वे स्थल निम्न हैं—

१. एष यश्चमसो देवपानः। ऋ० १०।१६।८

२. चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः। ऋ० १।१६१।५

३. शच्याकर्त चमसं देवपानम्। ऋ० ४।३५।५

४. अश्विनोश्चमसो देवपानः । अथर्व० ७।७७।३

५. अयं यश्चमसो देवपानः । अथर्व० १८।३।५३

सायण ने ऋ० १०।१६।८ में 'देवपान' शब्द का यह अर्थ किया है कि 'देवाःपिबन्ति अस्मिन्' अर्थात् जिसमें देवता सोम अथवा हवि का भक्षण करते हैं। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ दवपान शब्द आया है, वहाँ-वहाँ सोम पीने का पात्र ऐसा अर्थ किया है। और यह देवपान शब्द प्रायः चमस का विशेषण होकर आया है। इसलिये 'चमसो देवपानः' का तात्पर्य हुआ कि देवताओं के पीने का साधन चमचा। स्वामी जी ने अपने भाष्य में देवपान शब्द का अर्थ दिया है कि "देवैः किरणैरिन्द्रियैर्वा पेयम्" ऋ० १।१६१।५ अर्थात् किरणों और इन्द्रियों से पीने योग्य। आध्यात्मिक क्षेत्र में हमने चमस मेघ को माना है, इसलिये उस क्षेत्र में देवपान शब्द का तात्पर्य होगा कि किरणों से पीने योग्य। मेघ को किरणें पीती हैं यह स्पष्ट ही है। आध्यात्मिक या अधिराष्ट्र में चमस का अर्थ दिमाग करने पर 'देवपान' शब्द का अर्थ हो जायेगा कि इन्द्रियों से पीने योग्य। इसलिये अधिराष्ट्र में 'देवपान' शब्द का अर्थ होगा इन्द्रियों से पीने योग्य या इन्द्रियों का पान का साधन। देवपान का ऐसा अर्थ करने पर मन्त्रों का अर्थ तथा संगति अत्युत्तम हो जाती है।

उदाहरण के तौर पर दो मन्त्र हम यहाँ दिये देते हैं—

इममग्ने चमसं मा विजिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्। एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ते ॥

ऋ० १०।१६।८॥

हे अग्नि ! इस चमस (दिमाग) को कुटिल मत बना देना।

क्योंकि यह दिमाग इन्द्रियों और मन से सम्बन्ध रखने वाली धृति, श्रद्धा आदियों का प्यारा है। यह जो मस्तिष्करूपी चमचा है—इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान को पीने का साधन है। इस ही मस्तिष्क में इन्द्रियाँ अमर रहती हुई उत्त म तथा तृप्त रहती हैं।

यहाँ अग्नि से तात्पर्य शोकाग्नि से है। 'जिह्वर:' शब्द ह्वग-ति कौटिल्ये से सिद्ध होता है। 'सोम्यानाम्' का अर्थ हमने मानसिक शक्तियाँ किया है। क्योंकि देव का अर्थ शरीरगत इन्द्रियाँ है तो 'सोम्यानाम्' से भी शरीरगत कोई पदार्थ ही ग्रहण करना चाहिये। 'सोम्य' पितरों को कहते हैं। इधर शरीर में मन को पितर कहते हैं। श० १४।४।३।१३ में "मनः पितरः" ऐसा कहा है और श० १४।४।३।९ में "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इन सबको मन ही माना है। इसलिये 'सोम्यानाम्' का अर्थ हमने मानसिक शक्तियाँ किया है।

अब हम अगले मन्त्र की व्याख्या आपके सामने करते हैं। अथर्व ७।७३।३ में एक मन्त्र आता है। मन्त्र इस प्रकार है—

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः। तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति।

अर्थात्—इन्द्रियादि देवों में अश्वियों का चमस यज्ञस्वरूप है, और इन्द्रियों का ज्ञान के पीने में साधन है। उस यज्ञ में अपने को आहुति रूप में डालने वाली सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अमृत का सेवन करती हुई उस दिमाग रूपी चमचे को वेदवाणी का गान करनेवाले वेदवेत्ता के मुख के द्वारा चाटती रहती हैं।

यहाँ यह अलंकार बांधा गया है कि वेदवेत्ता पुरुष का मस्तिष्क यज्ञ-स्वरूप है। उसमें जिज्ञासु पुरुष की इन्द्रियाँ अपनी आहुति डाल रही हैं अर्थात् जिज्ञासु पुरुष की इन्द्रियाँ ज्ञान ग्रहण के द्वारा वेदवेत्ता के मस्तिष्क को चाटती रहती हैं। अर्थात् उससे ज्ञान ग्रहण करती रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह ब्रह्माण्ड ज्ञान का भण्डार है—इसको संग्रह करने वाला वेदवेत्ता पुरुष है। वह जब बोलता है या करके दिखाता है तो जिज्ञासु पुरुष की इन्द्रियाँ सुनकर, करके, या देखकर ज्ञान प्राप्त करती रहती हैं। यहाँ चमस को 'अश्विनो श्चमस:' ऐसा कहा है। 'अश्विनौ' शब्द आवागमन को सूचित करता है, यह अश्विनौ पर स्वतन्त्र विचार करते हुए दिखाया जायेगा। और संक्षेप में 'रथ' के ऊपर विचार करते हुए दिखाया भी गया है। अश्विनौ के चमस का तात्पर्य यह है कि ज्ञान को ग्रहण करने तथा देने का साधन। दिमाग़ दो काम करता है एक क्रियावाहकनाड़ियाँ (Motor Nerves) द्वारा ज्ञान बाहिर को देता है,और दूसरा ज्ञान-वाहक नाड़ियाँ (Sensary Nerves) द्वारा बाहिर से ग्रहण करता है। इसलिये यहाँ 'अश्विनोश्चमस:' ऐसा कहा गया है।

इस प्रकार देवपान चमस इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्त करने का साधन मस्तिष्क ही है। चमस को एक जगह "असुरस्य भक्षणम्" ऐसा भी कहा है। असुर शब्द का अर्थ प्रज्ञा होता है। नि०, १० अ० ३४ ख० में असुर के लिये कहा गया है "असुरिति प्रज्ञा नाम, असुरत्वमेकं प्रज्ञावत्वम् वा" अर्थात् 'असुर' प्रज्ञा (बुद्धि) का नाम है। इसलिये 'असुरस्य भक्षणम्' का अर्थ हुआ कि प्रज्ञा (बुद्धि) के भक्षण करने का साधन।

मस्तिष्क प्रज्ञा के ज्ञान ग्रहण करने का साधन होता ही है।

इस प्रकार हमने निम्न तीन क्षेत्रों में चमस के ऊपर विचार किया, आधिदैविक, आध्यात्मिक और अधिराष्ट्र। आधिदैविक क्षेत्र में चमस मेघ को कहते हैं। आध्यात्मिक में सिर को और अधिराष्ट्र में भी सिर को ही माना गया है। इसलिये ऋभुओं का काम यह है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बँटे हुए राष्ट्र के व्यवसायों के लिये शिक्षणालयों से निकले स्नातकों को यज्ञदीक्षा (Training) देवें। यही चमस को चार में विभक्त करने का तात्पर्य है।

१७. तीन सवन

ऋभु सूक्तों में प्रायः वर्णन आता है कि ऋभुओं ने तृतीय-सवन में सोम का पान किया। सोम क्या चीज़ है ! और उसके पान का यहाँ क्या तात्पर्य है ! इत्यादि बातों को समझने के लिये सबसे प्रथम विचारणीय यह है कि हम यह निश्चय करें कि तृतीयसवन कहते किसे हैं ? जब तृतीयसवन के अर्थ का निर्णय होजायेगा तभी हम यह निश्चितरूप से कह सकेंगे कि इस जगह सोम का क्या अर्थ है, और उसके पान का यहाँ क्या तात्पर्य है। और दूसरे इससे ऋभुओं के स्वरूप पर भी अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा।

सवन का धात्वीय अर्थ है कि "सूयते यत्र" अर्थात् वह श्रम कि जिसके द्वारा किसी चीज को उत्पन्न किया जाये अथवा निचोड़ा जाये। जिसे कि एक वाक्य में हम यों कह सकते हैं कि "उत्पन्न करने और निचोड़ने (Extraction) की क्रिया (श्रम)। स्वामी दयानन्द ने भी अपने उणादिकोष में सवन का

अर्थ किया है कि 'सवत्युत्पादयति सुनोति निस्सारयति रसान् वा सः'' अर्थात् सवनक्रिया में किसी चीज़ को उत्पन्न किया जाता या रसों को निचोड़ा जाता है। ऋ० १।१६।५ में उन्होंने सवन का अर्थ किया है कि ''सुन्वन्त्यैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति येन तत् क्रियाकाण्डम्'' अर्थात् सवन वह क्रियाकाण्ड है, जिससे कि ऐश्वर्य प्राप्त होता है। ऋ० ४।३३।४ में सवन का अर्थ किया है कि ''कार्यसिद्ध्यर्थं कर्म'' अर्थात् कार्य-सिद्धि के लिये किया गया कर्म सवन कहलाता है। ऋ० ४।३६।२ में लिखा है ''शिल्पविद्याजनितस्य कार्यस्य'' अर्थात् शिल्पविद्या से उत्पन्न कार्य को सवन कहते हैं। इस प्रकार सवन का अर्थ हुआ कि उत्पत्ति क्रिया या उत्पत्ति में किया गया श्रम। किसी भी चीज़ की श्रेष्ठ उत्पत्ति या उत्तम रचना करने में किये गये श्रम के वैदिक शास्त्रों में तीन विभाग किये गये हैं, जो कि प्रातः सवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन नाम से कहे जाते हैं।

इन तीनों उत्पत्तियों में से गुज़र कर प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ सर्वतः श्रेष्ठ बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति तीन वार जन्म लेता है, इसका तात्पर्य मनुस्मृति में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। वहाँ आता है कि—

''मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥''

मनु० २।१६६

अर्थात्—द्विज का प्रथम जन्म माता से, दूसरा आचार्य कुल में और तीसरा यज्ञदीक्षा के अवसर पर होता है। इस प्रकार प्रत्येक द्विज की ये तीन प्रकार की उत्पत्तियां मनुस्मृति

ने बतायी हैं। ये ही तीनों उत्पत्तियाँ अन्य भौतिक पदार्थों की भी हो सकती हैं।

अब हम क्रमशः इन तीनों सवनों पर विचार करते हैं।

प्रातःसवन—

अब हम क्रमशः इन तीनों के ऊपर विचार करते हैं, और यह भी दर्शाने की कोशिश करते हैं कि इन तीनों का किस किस पदार्थ के साथ किस किस दृष्टि से सम्बन्ध है। कौ० ब्रा० १२।६॥१४।५॥२८।५ में आता है कि **"अग्नेर्वै प्रातः सवनम्"** अर्थात् प्रातः सवन अग्नि का है। इसी प्रकार अन्य ब्राह्मणों में भी प्रातः सवन अग्नि का माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य की अथवा किसी भी पदार्थ की प्रथम उत्पत्ति अग्नि ही कराता है। इसी चीज़ को तै० ब्रा० २।१।२।११॥३।७।३।७ में इस प्रकार दर्शाया है कि **"अग्निर्वै रेतोधा"** अर्थात् वीर्याधान कराने वाला अग्नि है। श० प० ब्रा० ३।४।३।४ में भी यही कहा गया है कि **"अग्निर्वै मिथुनस्य कर्ता प्रजनयिता"** अर्थात् अग्नि ही सम्बन्ध कराने वाला और उत्पत्ति कराने वाला है। इसी लिये तै० १।७।२।२ में "वीर्यं वा अग्निः" वीर्य को ही अग्नि कह दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि माता से प्रथम उत्पत्ति अग्नि का क्षेत्र है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थों में भी हम यही नियम काम करता हुआ देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, उसका संश्लेषण या विश्लेषण तक भी अग्नि के द्वारा ही होता है। पानी को दो विभागों में फाड़ना, या दो गैसों को मिला कर पानी बनाना अग्नि के ही द्वारा हो सकता है। इसलिये प्रातः सवन अर्थात् किसी भी पदार्थ की प्रथम उत्पत्ति बिना अग्नि के

नहीं हो सकती। इसलिये प्रातःसवन का सम्बन्ध अग्नि से बताया गया है। यही नियम हमारे पर भी लागू होता है। यदि हम किसी कार्य को पूर्णता तक पहुँचाना चाहते हैं, तो यह आवश्यक है कि हमारे अन्दर भी कार्य के लिये अग्नि हो, लगन हो, जोश हो, जिन मनुष्यों में अग्नि नहीं, लगन नहीं, जोश नहीं, वे मनुष्य पहिले तो कार्य को प्रारम्भ करते ही नहीं, और यदि किसी तरह कार्य को प्रारम्भ कर भी दें, तो अग्नि के न होने से बीच में ही उस कार्य को छोड़ बैठते हैं। क्योंकि कार्य को सफलता तक पहुँचाने के लिये प्रथम अग्नि की आवश्यकता है। यह ठीक ही कहा है कि प्रातःसवन अग्नि का है। और राष्ट्र की दृष्टि में अग्नि ब्राह्मणों को कहते हैं। इसलिये ब्राह्मणों का यह काम है कि वे अपने विद्या तथा बुद्धिबल द्वारा प्रजाओं को यह शिक्षा देवें कि अमुक पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न होता है। राष्ट्र की प्रत्येक उत्पत्ति चाहे वह मानवीय हो या भौतिक हो उसका नेतृत्व करना ब्राह्मणों का काम है। इसलिये प्रातःसवन का सम्बन्ध राष्ट्र में ब्राह्मणों के साथ है।

माध्यन्दिनसवन—

हमने ऊपर देखा था कि मनुष्य की अथवा किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति करानेवाली अग्नि है। इसलिये प्रातःसवन का सम्बन्ध अग्नि से है। अब हम माध्यन्दिन के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट करते हैं। कौ० १४।५ और जै० उ० १।३७।३ में माध्यन्दिन के सम्बन्ध में कहा गया है कि "इन्द्रस्य माध्यन्दिनं सवनम्", "ऐन्द्रं वै माध्यन्दिनं सवनम्" अर्थात् माध्यन्दिनसवन का सम्बन्ध इन्द्र के साथ है। इन्द्र शब्द 'इदि परमैश्वर्ये' से बना है। इसलिये इन्द्र का अर्थ हुआ

राजा या मालिक। अर्थात् उत्पन्न प्राणी या पदार्थ की रक्षा करने वाला उसका मालिक इन्द्र कहलाता है। राष्ट्र की दृष्टि से इन्द्र राजा को कहते हैं। राजा का यह कर्तव्य है कि वह राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ की रक्षा करे। माता से पैदा होकर सन्तान आचार्यकुल में दूसरा जन्म लेने जाता है। उस समय राजा का कर्तव्य है कि बाह्यविघ्नबाधाओं से उसकी रक्षा करे और उसके योग्य बनने में जो सहायता कर सकता हो, वह करे। और साथ में उसका यह भी कर्तव्य है कि वह राष्ट्र में ऐसे नियमों का निर्माण करे जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति को दूसरा जन्म अवश्य लेना पड़े। राज्य की तरफ से यह नियम हो कि प्रत्येक मां बाप को अपने बच्चों को शिक्षा अवश्य देनी होगी, वरना वे दण्ड के भागी होंगे। इसी प्रकार पदार्थों का दूसरा जन्म वह है जब कि क्रय-विक्रय के नियमों के आधार पर उनका मूल्य आंका जाता है। राज्य के नियमों के आधार पर पदार्थ का मूल्य बढ़ जाता है, और नियमों के आधार पर ही उनका मूल्य घट भी जाता है। इसलिये कारखाने से बाजार में आने पर उनकी दूसरी उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति राजा कराता है। जैसा कि माध्यन्दिन के सम्बन्ध में मैं ऊपर दर्शा आया हूँ कि राजनियमों तथा कानूनों के आधार पर पदार्थों का मूल्य होता है, यही उनकी उत्पत्ति है। इसका दूसरा भाव यह भी हो सकता है कि उत्पन्न पदार्थों के ऊपर राजा का अधिकार होता है, वह पदार्थों को प्राप्त करके विजयी बनता है। राष्ट्र के अन्दर बीमारी तथा अकाल आदि वृत्रों को नाश करता है। और राष्ट्र के सारे शत्रुओं का भी वह विनाश करता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और विचारणीय है, वह यह कि श० ४।३।३।६ में कहा गया है कि **"एतद्वा इन्द्रस्य निष्केवल्यं सवनं यन्माध्यन्दिनं सवनं तेन वृत्रमजिघांसत्तेन व्यजिगीषत"** अर्थात इन्द्र का केवल माध्यन्दिन सवन ही है। ऋ० ४।३५।७ में भी यही कहा है कि "हर्यश्व माध्यंदिनं सवनं केवलं ते" हे हर्यश्व इन्द्र ! तेरा केवल माध्यन्दिन सवन ही है। अर्थात् राजा का सम्बन्ध उत्पन्न पदार्थों से ही है। पदार्थ कैसे उत्पन्न किये जायें—इत्यादि ब्राह्मणों के क्षेत्र में वह हाथ नहीं डाल सकता। परन्तु इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि अग्नि अर्थात् ब्राह्मणों का सम्बन्ध सब प्रकार की उत्पत्तियों से है। दूसरे यही बात हमारे ऊपर भी घट सकती है। श्रम करते करते मनुष्य जब कार्यकुशल हो जाता है तब सब विघ्न-बाधायें रूपी वृत्र उसके रास्ते से हट जाते हैं, वह विजयी हो जाता है। यह विजय की तथा स्वामित्व की भावना कार्य की सिद्धावस्था की मालिक होती है। अथवा कार्य के निष्पन्न होने पर हम ऐश्वर्यशाली हो जाते हैं। जितनी भी आपत्तियाँ होती हैं, ऐश्वर्य के प्राप्त होने पर वे सब दूर हो जाती हैं। इस प्रकार माध्यन्दिन का सम्बन्ध विजयी इन्द्र से है।

अब हम तृतीयसवन के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं।

तृतीयसवन—

ब्राह्मण-ग्रन्थों में तृतीयसवन का सम्बन्ध सब देवताओं के साथ बताया गया है। कौ० १४।५॥ १६।११ में आता है कि "विश्वेषां देवानां तृतीयं सवनम्"। अर्थात् विश्वेदेवों का तृतीय सवन के साथ सम्बन्ध है। और ऋभु-सूक्तों में ऋभुओं का

सम्बन्ध भी तृतीयसवन के साथ बताया गया है। वैसे तो कई स्थलों पर ऋभुओं का तृतीयसवन के साथ वर्णन आता है, परन्तु उदाहरण के तौर पर एक ही स्थल हम यहाँ दिखा देते हैं। ऋ० ४।३३।११ में आता है कि **"ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीये अस्मिन्त्सवने दधात"** अर्थात ऋभु तृतीयसवन में हमें ऐश्वर्य देवें। इस प्रकार अन्य भी कई स्थलों पर ऋभुओं का तृतीयसवन के साथ सम्बन्ध बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार तृतीयसवन यज्ञदीक्षा को कह सकते हैं। आचार्य-कुल से शिक्षा प्राप्त कर नव स्नातक जब राष्ट्र में चल रहे यज्ञों में दीक्षित होने आते हैं, तो पहिले उन्हें यज्ञदीक्षा (Training) लेनी पड़ती है। यही यज्ञदीक्षा तृतीयसवन है, और यही यज्ञ-दीक्षा देनेवाले ऋभु हैं।

इसी यज्ञदीक्षा को वेद में तक्षण कह दिया गया है। अर्थात् ऋभु गुरुकुल में से आये नव स्नातकों को राष्ट्र में हो रहे यज्ञों में दीक्षित होने के लिये तक्षण करते हैं। पदार्थों के सम्बन्ध में तक्षण का भाव यह हो सकता है कि ऋभु यह सोचते रहते हैं कि अमुक पदार्थों को और किस तरह से सुन्दर तथा उपयोगी बनाया जाये, उसमें और क्या चीज़ जोड़ी जाये अथवा क्या चीज़ घटाई जाये। इस प्रकार नये-नये (Design) तय्यार करना, उन्हें क्रियारूप में परिणत करके देखना तथा उनकी परीक्षा करनी—इत्यादि निरीक्षण आदि का काम ऋभुओं का पदार्थों के सम्बन्ध में हो सकता है। इसी लिये उन्हें यदि Scientific Engineers या Craftmen कहा जाये तो सारी संगति लग जाती है। राष्ट्र के सब देवों का अपने-अपने क्षेत्र में यही काम है।

हमारे ऊपर भी यह इस प्रकार घट सकता है कि कार्य के पूर्ण होने पर जब हम उसे अपने उपयोग में लाते हैं, तब उसके अच्छे, बुरे, लाभालाभ के सम्बन्ध सोचते हैं, फिर उसी के अनुसार उसमें परिवर्तन कर लेते हैं। इस प्रकार यह तीन तरह का उत्पत्ति के लिये किया गया परिश्रम प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, और तृतीयसवन के नाम से हमारे धर्म-शास्त्रों में व्यवहृत हुआ है। अब हम प्रत्येक पदार्थ को इन तीन सवनों में विभक्त कर सकते हैं। सवनों को पूर्णतया समझने के लिये तथा स्वीकृत अर्थों को सब जगह घटाने के लिये कुछ थोड़ा-सा और विचार करते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों में कुछ पदार्थों का सवनों के साथ सम्बन्ध बताया गया है। पहिले उनकी तालिका देकर फिर संक्षेप से उन पर विचार करते हैं। इसके अनन्तर सवनों के सम्बन्ध में आये वेदों के कुछ मन्त्र भी आपके सामने रख दिये जायेंगे। तालिका निम्न है—

सं०	नाम	प्रातः सवन	माध्यन्दिन सवन	तृतीय सवन
१.	लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ
२.	वर्ण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य
३.	ब्रह्मचारी	वसु	रुद्र	आदित्य
४.	देवता	अग्नि	इन्द्र	विश्वेदेवाः
५.	सूर्य	उदय	मध्याह्न	अस्त

इस प्रकार कुछ पदार्थों के सम्बन्ध में यह ऊपर की तालिका दी गई है। इसमें पृथिवी का प्रातःसवन के साथ सम्बन्ध बताया गया है। इन तीनों लोकों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रथम श्रम पृथिवी के सम्बन्ध में करना चाहिये, अर्थात् पृथिवी के ज्ञान के अनन्तर हम फिर अन्तरिक्ष

का ज्ञान सुगमतया प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये माध्यन्दिन का सम्बन्ध अन्तरिक्ष से बताया गया है। अन्तरिक्ष के अनन्तर द्युलोक की बारी आती है। इसलिये कहा कि "द्यौर्वै तृतीयं सवनम्" अर्थात् द्युलोक तीसरा सवन है। इसी प्रकार वर्णों की उत्पत्ति में भी परमात्मा ने श्रम किया। इसलिये इन वर्णों को भी सवनों में विभक्त कर दिया है। कौ० २५।१२ में आता है कि 'ब्रह्म वै प्रातःसवनम्' अर्थात् ब्रह्मशक्ति प्रातःसवन है। इसी प्रकार क्षत्रशक्ति माध्यन्दिनसवन है, और वैश्यशक्ति तृतीयसवन है। अर्थात् परमात्मा ने सृष्टि के आदि में पहिले-पहिल ब्रह्मशक्ति को पैदा किया। जैसा कहा भी गया है कि 'सर्वं ब्राह्ममयं जगत्' अर्थात् सब पहिले ब्राह्मण ही थे। सब मनुष्य ब्रह्मशक्ति की प्रेरणा से सत्यादि व्यवहार करते थे। परन्तु जब कुछ काल व्यतीत हुआ और मनुष्यों में संघर्ष शुरू हुआ, तो समाज की व्यवस्था को स्थिर रखने के लिये क्षत्रशक्ति की आवश्यकता हुई, तब परमात्मा को माध्यन्दिनसवन करना पड़ा। इन दोनों त्यागी-तपस्वी शक्तियों को भोजन देने के लिये तीसरी वैश्यशक्ति की आवश्यकता हुई तो परमात्मा ने तृतीय-सवन किया और वैश्यशक्ति को पैदा किया। इस प्रकार परमात्मा के इन तीन सवनों अर्थात् श्रमों से तीन शक्तियाँ प्रादुर्भूत हुईं, जोकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलायीं।

तीनों प्रकार के वसु, रुद्र, आदित्य ब्रह्मचारियों का सम्बन्ध भी इन तीन सवनों से बताया गया है। इन तीनों प्रकार के ब्रह्म-चारियों को शिक्षा द्वारा तय्यार करने में भी श्रम करना पड़ता है। इसलिये श० ३।३।५।१ में कहा है कि "वसूनामेव प्रातः सव-नम्" अर्थात् प्रातःसवन का सम्बन्ध वसु ब्रह्मचारियों के साथ

है। आगे कहा कि "रुद्राणां माध्यन्दिनं सवनम्" श० ४।३।५।१ अर्थात् माध्यन्दिन सवन रुद्रों का है। वसु ब्रह्मचारी बनने के पश्चात् फिर यदि और श्रम किया जाये तो उससे रुद्र नामक ब्रह्मचारी पैदा होते हैं। आगे "आदित्यानां तृतीयं सवनम्"। श० ४।३।५।१ अर्थात् तृतीय सवन का सम्बन्ध आदित्यों से है। इसी प्रकार सूर्य के दृष्टान्त से भी इन सवनों को समझाने की कोशिश की गई है। कौ० १८।६ में आता है कि "उद्यंतं सूर्यमीप्सन्ति प्रातः सवनेन" अर्थात् उदय होता हुआ सूर्य प्रातःसवन की ओर निर्देश करता है। इसका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि कार्यशक्ति की यह प्रारम्भावस्था है जो कि प्रातःसवन से सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार मध्याह्न-काल का और अस्त होता हुआ सूर्य भी माध्यन्दिन सवन और तृतीयसवन के नाम से कहे जाते हैं।

अब हम वेद मन्त्रों के आधार पर भी इन सवनों के ऊपर विचार प्रकट करते हैं। अथर्व ६।४७ में आता है कि—

अग्निः प्रातः सवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृद् विश्वशम्भूः। स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सह भक्षाः स्याम। अथर्व ६।४७।१

अर्थात्—अग्नि प्रातः सवन में हमारी रक्षा करे। वह अग्नि सम्पूर्ण मनुष्यों का हितकारी है, सबका निर्माता है, और विश्व के लिये कल्याणकारी है। वह श्रम के द्वारा तपाकर सबको पवित्र करने वाला है। वह हमें धन देवे जिससे कि दीर्घायु हो कर हम सब ही ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले हों।

इस मन्त्र में अग्नि का सम्बन्ध प्रातःसवन से बताया गया

है, और अग्नि को 'वैश्वानर' सब मनुष्यों का हितकारी भी कहा गया है। यह अग्नि ही मनुष्यों को अभीष्ट की प्राप्ति कराती है, इसके बिना सफलता प्राप्त करना असम्भव है। इस लिये इसे वैश्वानर कहा गया है। अग्नि के सम्बन्ध में अगला विशेषण 'विश्वकृत्' आया है। इसका अर्थ है "सबको बनाने वाला"। यह विशेषण भी अग्नि के लिये बहुत ही ठीक है क्यों कि सबकी उत्पत्ति में कारण अग्नि ही है। इसलिये उसे 'विश्व-कृत्' कहा गया है। तीसरा विशेषण अग्नि का 'विश्व-शम्भूः' अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है। मनुष्यों को प्रत्येक कल्याणकारी पदार्थ की प्राप्ति भी अग्नि से ही होती है। यहाँ तक कि अपना भोजन भी हम बिना अग्नि की सहायता के नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये वह अग्नि 'विश्व-शम्भूः' भी है। मन्त्र के अगले उत्तरार्ध में कहा गया है कि वह पवित्र करने वाला अग्नि हमें द्रविण की प्राप्ति करावे। जिस मनुष्य ने संकल्परूपी अग्नि धारण कर ली, वह उसके कारण पवित्र भी हो जाता है, और अपने उद्देश्य को भी प्राप्त होता है। और इस मन्त्र में यह भी उपदेश दे दिया गया है कि मनुष्य अकेला ही धन का उप-भोग न करे, अपितु मनुष्य-समाज के सब प्राणी उसका उप-भोग करें।

द्वितीय सवन के सम्बन्ध में अगले मन्त्र में कहा गया है कि—

विश्वेदेवाः मरुतः इन्द्रो अस्मानस्मिन् द्वितीये सवने न जह्युः। आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम। अथर्व० ६।४७।२

अर्थात्—सम्पूर्ण देव, मरुत् और इन्द्र हमको इस द्वितीय-सवन में न छोड़ बैठें। हम आयुष्मान् हों और उनके लिये प्रिय-वचन बोलते हुए देवताओं की सुमति में रहें।

इसका तात्पर्य यह है कि ऐश्वर्य की प्राप्ति पर जैसा कि इससे पहिले मन्त्र में कहा गया है, हम शत्रुओं पर चाहे वे आन्तरिक हों या बाह्य हों—विजयी होवें। इस विजय-यात्रा में सारे श्रेष्ठ मनुष्य मुझे न छोड़ें, और मेरा उत्साह बढ़ावें। और यदि इस विजय-यात्रा में कोई रुकावट आये तो मरुत् अर्थात् सैनिक और राजा उनको दूर करें। ये सब मुझे न छोड़ें इसके लिये वेद ने यह उपाय बताया कि हम इनके सामने नम्र रहें और इनसे प्रियवचन बोलें। कभी भी विजय-भावना से गर्वित न होवें, तभी हम देवताओं की सुमति को ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात् उत्तम सलाह या उत्तम रास्ता उनसे ले सकते हैं।

अब अगले मन्त्र में तृतीयसवन का वर्णन किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभिवस्यो नयन्तु।

ऋ० ६।४७।३

अर्थात्—यह तृतीयसवन है जिसमें कि ऋभु लोग क्रान्त-दर्शी पुरुषों के ज्ञान से मस्तिष्क को प्रेरणा देते हैं। वे ऋभु इस तृतीयसवन में स्वर (सोम=ज्ञान, सुख) अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करते हुए या सुखी होते हुए अत्यन्त ऐश्वर्य युक्त इष्टि हमें प्राप्त करावें।

इस मन्त्र में ऋभुओं से चमस को तक्षण करने की प्रार्थना की गई है। अर्थात् राष्ट्र के मस्तिष्कों को तृतीयसवन में तक्षण

(Training) करें और हमें ऐसे यज्ञ करावें, जिनमें खूब ऐश्वर्य प्राप्त हो।

ऋ० ३।२८ सूक्त में भी इन तीनों सवनों के ऊपर कुछ प्रकाश डाला गया है। और यहाँ यह भी बताने की कोशिश की गई है कि अग्नि का तीनों सवनों के साथ किस प्रकार का और कितना सम्बन्ध है। मन्त्र इस प्रकार है—

अग्ने जुषस्व नो हविः पुरोडाशं जातवेदः प्रातः सावे धियावसो। ऋ० ३।२८।१

(धियावसो) बुद्धि और कर्म दोनों की निवास स्थान (जातवेदः) उत्पन्न पदार्थों को जाननेवाली। (अग्ने) हे अग्नि (प्रातः सावे) प्रातः सवन में (नः पुरोडाशं हविः जुषस्व) हमारे पुरोडाश रूपी हवि को सेवन कर।

इस मन्त्र में अग्नि का स्वरूप प्रातः सवन की ओर निर्देश कर रहा है। उसे "धियावसो" कहा गया है। प्रथमोत्पत्ति में बुद्धि और कर्म दोनों की आवश्यकता होती है। और इस मन्त्र में अग्नि को पुरोडाश को सेवन करने के लिये कहा गया है। पुरोडाश कार्य की रूपरेखा को कहते हैं। यह आगे जाकर हम स्पष्ट कर देंगे। जो चीज उत्पन्न करनी है उसकी रूप-रेखा अग्नि को सेवन करने के लिये दी है। इसी लिये उसे 'जातवेदः' अर्थात् उत्पन्न पदार्थों को जानने वाली कहा है। 'जात' का अर्थ प्रसिद्ध भी होता है, इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्र में अग्नि के द्वारा ऐसे पदार्थों की उत्पत्ति की जानी चाहियें जो प्रसिद्ध हों। इसलिये इस मन्त्र में यह बताया गया कि जैसा पदार्थ पैदा करना हो उसकी रूपरेखा पता हो, और अग्नि—संकल्पादि भी वैसे ही हों। अगले मन्त्र में भी प्रातः

सवन से सम्बन्ध रखने वाली अग्नि का अगला स्वरूप बोला है। मन्त्र इस प्रकार है—

पुरोडा अग्ने पचतस्तुभ्यं वा घा परिष्कृतः। तं जुषस्व यविष्ठ्य॥

ऋ० ३।२८।२

(यविष्ठ्य) हे पदार्थों में मिश्रणामिश्रण करने वाली (अग्ने) अग्नि (पचतः) पकाने वाले अर्थात् कार्य को पूर्ण करने वाले का (यः पुरोडा) जो रूपरेखा है वह (तुभ्यं परिष्कृतः) तेरे लिये शुद्ध की हुई है (तं जुषस्व) उसको तू सेवन कर।

यहाँ अग्नि को "यविष्ठ्य" कहा गया है। किसी पदार्थ की उत्पत्ति में अग्नि का काम यह है कि वह या तो पदार्थ को फाड़ कर दो हिस्सों में कर देती है, या दो पदार्थों को आपस में मिला देती है। नये पदार्थ की उत्पत्ति का यही क्रम है। और यह भी कहा गया है कि हे अग्नि तू शुद्ध की हुई रूपरेखा (out-line) के अनुसार उत्पत्ति कर।

आगे माध्यन्दिन सवन का स्वरूप दिखाया गया है। वहाँ आता है कि—

माध्यन्दिने सवने जातवेदः पुरोडाशमिह कवे जुषस्व।
अग्ने यह्वस्य तव भागधेयं न प्रमिनन्ति विदथेषु धीराः॥

ऋ० ३।२८।४

(कवे) क्रान्तदर्शी, अर्थात् पदार्थ के एक एक स्वरूप को जानने वाली (जातवेदः) जातवेद अग्नि (इह माध्यन्दिने सवने पुरोडाशं जुषस्व) इस माध्यन्दिन सवन में पुरोडाश का सेवन कर। हे (अग्ने) अग्नि (धीराः) बुद्धिमान् पुरुष (यह्वस्य तव भागधेयं न प्रमिनन्ति) तुझ महान् के हिस्से को

नष्ट नहीं करते। अर्थात् इस माध्यन्दिनसवन में भी तेरा हिस्सा रहता है।

इस मन्त्र में यह दिखाया गया है कि माध्यन्दिनसवन का इन्द्र के साथ सम्बन्ध होते हुए भी थोड़ा बहुत अग्नि का सम्बन्ध अवश्य होता है। बुद्धिमान् पुरुष ऐश्वर्य प्राप्त होने पर भी अपने संकल्प-रूपी-अग्नि का अवश्य ख्याल रखते हैं। ऐश्वर्य प्राप्त होने पर वे संकल्प आदि को नहीं छोड़ बैठते। यही भाव यहाँ "अग्ने यह्वस्य तव भागधेयं न प्रमिनन्ति" में स्पष्ट किया गया है।

आगे तृतीयसवन में जो कि तृतीयोत्पत्ति का समय है, उसमें भी अग्नि का सम्बन्ध अगले मन्त्र में दिखाया गया है। मन्त्र इस प्रकार है।

अग्ने तृतीये सवने हि कानिषः पुरोडाशं सहस सूनवाहुतं।
अथा देवेष्वध्वरं विपन्यया धा रत्नवन्तममृतेषु जागृविम् ॥

ऋ० ३।२८।५

(कानिषः) कमनीय (सहसः सूनो) साहस के पुत्र (अग्ने) हे अग्नि (तृतीये सवने) तृतीय सवन में (आहुतं पुरोडाशं धाः) लाये हुए पुरोडाश को धारण करो। (अथ) और (अमृतेषु जागृविं) अमर पदार्थों में सदा जागरूक (रत्नवन्तम्) रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले (अध्वरम्) हिंसा रहित यज्ञ को (देवेषु) देवताओं में (विपन्यया) अपनी बुद्धि तथा कृति से (धाः) धारण करो।

अथर्व ६।१ में इन सवनों को एक और दूसरे रूप में रक्खा गया है। वहाँ आता है—

यथा सोमः प्रातः सवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।

अथर्व० ६।१।११

अर्थात् —जिस प्रकार सोम (Matter) प्रातःसवन में अश्वियों को प्यारा होता है ।

हम रथ के सम्बन्ध में विचार करते हुए अश्विनौ के सम्बन्ध में भी विचार कर चुके हैं । अश्वी यातायात (Traffic) के अध्यक्ष हैं । इस मन्त्र में कहा गया है कि प्रातः सवन अर्थात् प्रथमोत्पत्ति में सोम उनका प्यारा होता है । इसलिये इसका तात्पर्य यह होगा कि पदार्थ के बनाने के लिये वे सोम (Matter) को इधर उधर से इकट्ठा करके लाते हैं । इस प्रकार यहाँ सोम, सामग्री (Matter) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसी भाव को इसी सूक्त के १६, १७वें मन्त्र में मधुमक्खियों का उदाहरण देकर व्यक्त किया गया है । मन्त्र इस प्रकार है—

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि । एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥

अथर्व० ६।१।१६

अर्थात्—जिस प्रकार मधुमक्खियाँ बसन्त में शहद इकट्ठा कर लेती हैं । उसी प्रकार अश्वी भी मेरे में ऐसा ही वर्च धारण करावें । अर्थात् मैं भी पदार्थोत्पत्ति के लिये सामग्री (Matter) इकट्ठी कर लिया करूँ । इसी प्रकार १७वें मन्त्र (यथा मक्षा इदं मधु) में भी यही भाव दर्शाया गया है । इसका तात्पर्य है कि प्रातःसवन में अश्वियों से पदार्थ के लिये सामग्री इकट्ठी करने की शक्ति मांगी गई है ।

माध्यन्दिन के सम्बन्ध में अगला मन्त्र इस प्रकार है—

यथा सोमो द्वितीये सवने इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।

अथर्व० ६।१।१२

अर्थात्—द्वितीयसवन में सोम, इन्द्र और अग्नि दोनों का प्यारा होता है। राजा, स्वामित्व-भाव, सौन्दर्य और अग्नि ब्राह्मण, संकल्प आदि ये सब इन्द्र और अग्नि से ग्रहण किये जा सकते हैं।

आगे तृतीय सवन के लिये कहा गया है कि—

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।

अथर्व० ९।१।१२

अर्थात्—जिस प्रकार सोम तृतीयसवन में ऋभुओं का प्यारा होता है।

तृतीय सवन में सोम को ऋभवों का प्यारा बताया गया है। हम तक्षण के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह देख चुके हैं कि उनका तक्षण के साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये उत्पत्ति, यज्ञदीक्षा तथा तक्षण को सामने रखते हुए हम यही कह सकते हैं कि ऋभुओं का उत्पत्ति में काम तक्षण का है। अर्थात् जिस प्रकार ऋभु शिक्षणालयों से निकले नव स्नातकों को राष्ट्र में चल रहे यज्ञों में दीक्षित होने से पहले दीक्षा देते हैं। और जो उनमें कमी हो उसको पूरा करते हैं और जो बुरी आदतें हों उनको दूर करते हैं। और राष्ट्र में चल रहे यज्ञों के लिये योग्य हो गया है कि नहीं यह पड़ताल करते हैं। उसी प्रकार पदार्थों में भी ऋभु यह देखते हैं कि ये ठीक बन गये हैं कि नहीं। यदि कोई कमी हो तो उसको पूरा करते हैं। और जो दोष दूर करने हों वे दूर करते हैं। इस प्रकार तृतीय-सवन, तक्षण, परिशोध तथा Training आदि के लिये किया गया, श्रम है। यह काम आजकल की भाषा में Engineers का है। इसी लिये हमने ऋभुओं को Sceintific Engineers सिद्ध किया है।

१८. सोमपान

चमस के ऊपर विचार करते हुए हम यह देख चुके हैं कि चमस मस्तिष्क का नाम है, और देवपान अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञानरूपी धारा के पान का साधन है। और अब तृतीयसवन के ऊपर विचार करते हुए हमने यह देखा था कि तृतीय-सवन मनुस्मृति के आधार पर यज्ञदीक्षा को कहते हैं। जिसमें ऋभु शिक्षणालयों से निकले नवस्नातकों को राष्ट्र में होरहे यज्ञों में सम्मिलित होने के लिये दीक्षा देते हैं, अर्थात् राष्ट्र की सेवा (Service) के लिये उन्हें दीक्षा देते हैं। और इसी प्रकार इस तृतीय-सवन में पदार्थों में निरीक्षण तथा परीक्षण द्वारा संशोधन आदि करते हैं। परन्तु ऋभु सूक्तों में कई ऐसे मन्त्र आते हैं जहाँ कि ऋभुओं के लिये कहा गया है कि तुम तृतीय-सवन में सोम का पान करो। जैसा कि ऋ० ४।३६।२ में आता है कि "अस्य सवनस्य पीतयः" अर्थात् इस तृतीय-सवन का पान। अर्थात् इस तृतीयसवन के पान का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है। विचारणीय यह है कि यहाँ सोमपान का क्या तात्पर्य है? हम यह देख चुके हैं कि तृतीय सवन किसको कहते हैं। इसलिये यहाँ सोमपान का तात्पर्य ऋभुओं के पुत्र अर्थात् ऋभुओं के नीचे काम करने वाले कारीगरों से उत्पन्न की हुई वस्तु के निरीक्षण तथा परीक्षण या संशोधन आदि करने से है। सोम कहते ही उसे हैं "सूयते यत्" अर्थात् जो उत्पन्न किया जाये या निचोड़ा जाये। इन तीनों सवनों में से किसी के द्वारा जो चीज़ पैदा की जाये या निचोड़ी जाये वह सोम है। इसलिये यह कहने का तात्पर्य कि वे तृतीयसवन में सोम का पान करते हैं—यह है

कि वे कारीगरों से बनायी वस्तुओं का तक्षण करते हैं। सोम शब्द के ऊपर कईयों ने अपनी अपनी दृष्टि से विस्तृत विचार किया हुआ है। इसलिये हम इसकी विस्तृत विवेचना में न जाकर केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि सोम का धात्वर्थ किसी भी निष्पन्न चीज़ की ओर निर्देश करता है। अब हम वेदमन्त्रों के आधार पर यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि ऋभुओं के सोमपान का तात्पर्य किसी ओषधी वनस्पति आदि से उत्पन्न रस से न होकर पदार्थ के तक्षण से ही है। ऋ० ४।३४।१ में आता है कि "इदा हि धिषणा देव्यह्नामधात् पीतिं संमदा अग्मता वः।" अर्थात् इसके अनन्तर धिषणा देवी ज्ञान का पान करे और तुम्हारे आनन्द मिलकर हों।

यहाँ पर सोम का पान धिषणा देवी के लिये आया है। धिषणा बुद्धि को कहते हैं। अर्थात् बुद्धि सोम का पान करे। इसका तात्पर्य यही है कि सोम का पान ऋभुओं की बुद्धि करती है। निरीक्षण तथा परीक्षण आदि में बुद्धि का ही काम होता है। बुद्धि पदार्थों के सम्बन्ध में नयी नयी बातें सोचती रहती हैं। इसी बात को इस प्रकार कह दिया कि ऋभु तृतीय-सवन में सोमपान करते हैं।

धिषणा देवी के पान का वर्णन होने से 'अहन्' शब्द भी यहाँ दिन अर्थ में ठीक प्रतीत नहीं होता। श० १३।१।५।४ में अहन् शब्द के सम्बन्ध में कहा गया है कि "ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यदहः" अर्थात् अहन् ब्रह्म (ज्ञान=प्रकाश) का रूप है। इसलिए 'अहन्' शब्द से यहांपर ज्ञान अर्थ लेना चाहिये दिन नहीं। इसी सोम-पान के सम्बन्ध में ऋ० ४।३४।५ में मन्त्र आता है कि

"आ वः पीतयोऽभिपित्वे अन्हामिमा अस्तं नवस्व इव ग्मन्"
अर्थात् (अन्हामभिपित्वे) ज्ञान के प्राप्त होने पर (वः इमाःपीतयः) तुम्हारे ये पान अर्थात् पदार्थों के सम्बन्ध में अन्वेषण (अस्तं नवस्व इव आग्मन्) घर में नवोत्पन्न सन्तति के समान होता है। अर्थात् जिस प्रकार घर में नया पुत्र पैदा होता है—उसी प्रकार वे ऋभु अन्वेषण द्वारा पुत्र के समान नये पदार्थ का पता चलाते हैं।

ऋ० ४।३५।२ में बताया गया है कि ऋभु कैसे सोम का पान करते हैं। 'अभूत् सोमस्य सुषुतस्य पीतिः' अर्थात् ऋभु उत्पन्न हुए सोम का पान करें। अर्थात् कारीगरों से उत्पन्न पदार्थ को ही वे अवलोकन करते हैं।

ऋ० ४।३५।९ में एक मन्त्र आता है कि, "यत् तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वम् स्वपस्या सुहस्ताः" अर्थात् उत्तम हाथों वाले ऋभुओ ! तुम उत्तम कर्मों से तृतीय-सवन में पदार्थों में रमणीयता पैदा कर दो। तृतीयसवन में रत्न अर्थात् रमणीयता का धारण कराने का तात्पर्य यह है कि वे पदार्थों में तक्षण के द्वारा रमणीयता पैदा कर देते हैं। इस प्रकार तृतीयसवन में सोम के पान का तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ कारीगरों से उत्पन्न किये जा चुके हैं, या जो नवस्नातक शिक्षणालयों से आये हैं, उनका तक्षण करके उनमें रमणीयता पैदा की जाये। तृतीय सवन में सोमपान का तात्पर्य यही है।

१९. इक्कीस रत्न

ऋभु सूक्तों में आता है कि ऋभु लोग २१ रत्नों को धारण करने वाले हैं। जैसा मन्त्र में भी कहा है—

ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरासाप्तानि सुन्वते। ऋ० १।२०।७

अर्थात्—ऋभु लोग पदार्थों की उत्पत्ति के लिये २१ रत्नों को धारण करें।

ये २१ रत्न कौन से हैं? और इनका स्वरूप क्या है? यह अभी एक विचारणीय विषय है।

हम यह देख चुके हैं कि ऋभु वैज्ञानिक इञ्जीनियर्स हैं। वे प्रकृति में स्थित पदार्थों की अन्वेषणाओं द्वारा राष्ट्र में नानाविध यज्ञों (मिल, कारखानों) को प्रचलित करते हैं। इसलिये इनका सम्बन्ध प्रकृति से है, यह हम ऊपर दिखा ही चुके हैं। अब विचारणीय यह है कि प्रकृति में वे कौन-से २१ रत्न हैं, जिनको कि (सुन्वते) पदार्थों की उत्पत्ति के लिये ऋभु लोग धारण करते हैं। इस विषय में अथर्व० १।१।१ मन्त्र हमारी पर्याप्त सहायता करता है। वह इस प्रकार है—

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥

अर्थात्—जो २१ तत्व विश्व के सम्पूर्ण रूपों को धारण कर रहे हैं, वे ब्रह्माण्ड में चारों ओर विचार रहे हैं। वाक् अर्थात् ज्ञानपति परमात्मा उनकी सामर्थ्य हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गों में धारण करावें।

यहाँ पर उस ज्ञानपति परमात्मा से प्रार्थना है कि जो २१ रत्न ब्रह्माण्ड में सब रूपों को धारण कर रहे हैं, अर्थात् तत्त्व जिनसे कि यह सारा ब्रह्माण्ड बना हुआ है, उनका सामर्थ्य हमें प्राप्त होवे।

ब्रह्माण्ड के इन २१ तत्त्वों का स्पष्टीकरण पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार ने अपने अथर्ववेद-भाष्य में बहुत अच्छी तरह से किया हुआ है। पाठकवृन्द वहीं से अवलोकन कर लें।

ऋभुदेवताक-सूक्तानि

(१)

[कार्य-निर्देश]

१. अयं देवाय जन्मने स्तोमो विप्रेभिरासया अकारि रत्नधातमः ॥१॥

(विप्रेभिः) मेधावी ऋभुओं ने (देवाय जन्मने) दिव्य पदार्थों की उत्पत्ति के लिये, अथवा देवताओं में जन्म लेने के लिये अर्थात् देवताओं में नाम गिनाने के लिये (आसया) अपने मुख से (अयं) यह [अगले मन्त्रों में प्रतिपादित] (रत्नधातमः स्तोमः) रमणीय पदार्थों का समूह (अकारि) बताया है।

यह मन्त्र वेद में आये ऋभुसूक्तों में सबसे प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र है। इस २०वें सूक्त में ऋभुओं ने क्या क्या कार्य किये हैं—उनका नाम निर्देश किया गया है।

२. य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी। शमीभिर्यज्ञमाशत ॥२॥

(ये) जिन ऋभुओं ने (इन्द्राय) राजा या सम्राट् के लिये (वचोयुजा) कहने में चलने वाले (हरी) विज्ञान और कलाएँ (मनसा) बुद्धिपूर्वक (ततक्षुः) बनायीं। उन ऋभुओं ने (शमीभिः) अपने कर्मों से (यज्ञम्) राष्ट्ररूपी-यज्ञ को (आशत) व्याप्त कर दिया।

३. तक्षन् नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम् । तक्षन् धेनुं सबर्दुघाम् ॥३॥

ऋभुओं ने (नासत्याभ्याम्) अश्वियों के लिये (परिज्मानं) चारों दिशाओं में जाने वाले (सुखम्) बैठने में सुखकर (रथम्) रथ का (तक्षन्) निर्माण किया। और (सबर्दुघाम्) सब ज्ञानों को पूर्ण करने वाली (धेनुम्) साहित्य का (तक्षन्) निर्माण किया ।

४. युवाना पितरा पुनः सत्यमन्त्रा ऋजूयवः । ऋभवो विष्ट्यक्रत ॥४॥

(ऋजूयवः) सरल मार्ग का अवलम्बन करने वाले (सत्यमन्त्राः) सत्यज्ञान वाले (ऋभवः) ऋभुओं ने (पितरा) द्यावापृथिवी को (पुनः) फिर (युवाना[1] अक्रत) युवा कर दिया अर्थात् द्यावापृथिवी के परस्पर मिश्रणामिश्रण से नानाविध पदार्थों की उत्पत्ति होने लगी, इससे वे द्यावापृथिवी (विष्टी[2]) व्यापक कहलाने लगे ।

५. सं वो मदासो अग्मतेन्द्रेण च मरुत्वता। आदित्येभिश्च राजभिः ॥५॥

हे ऋभुओ ! (वः) तुम्हारे (मदासः) विद्याविलास (इन्द्रेण च मरुत्वता) सैनिकों वाले राजा के साथ (आदित्येभिश्च राजभिः[3]) देदीप्यमान आदित्यों (वैज्ञानिकों) के साथ (समग्मत) संगत होवे ।

---

१. युवानौ=यु मिश्रणामिश्रणयोः ।

२. विष्टी=विष्लृ व्याप्तौ ।

३. राजभिः=राजृ दीप्तौ ।

इस मन्त्र में ऋभुओं को निर्देश करके कहा गया है कि तुम्हारा विद्या में विहार या अन्य आनन्द सैनिकोंवाले राजा के अनुकूल हो। जिससे कि राष्ट्र-रक्षा में तुम्हारा सहयोग राजा को अवश्य प्राप्त हो सके। इसके लिये आवश्यक है कि तुम नये २ राष्ट्र-रक्षा के साधनों का निर्माण करो। यह राष्ट्र-रक्षा के लिये नवीन २ साधनों का निर्माण तभी सफल हो सकता है, जब कि तुम्हारा देदीप्यमान आदित्यों (वैज्ञानिकों) के साथ मेल होगा।

६. उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त चतुरः पुनः ॥६॥

(उत) और (त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्) त्वष्टा देव से संस्कृत (त्यं नवं) उस नवीन (चमसं) चमस के (पुनः) फिर (चतुरः अकर्त) चार विभाग करो।

७. ते नो रत्नानि धत्तन त्रिरासाप्तानि सुन्वते। एकमेकं सुशस्तिभिः ॥७॥

(ते) वे ऋभु लोग (नः सुन्वते) हम विद्या में स्नान करने वालों के लिये (त्रिरासाप्तानि) तीन वार सात अर्थात इक्कीस (रत्नानि) रत्नों को (एकमेकम्) क्रम से प्रत्येक को (सुशस्तिभिः)उत्तम २ निर्देशों से युक्त करके (धत्तन) धारण करावें।

८. अधारयन्त वह्नयोऽभजन्त सुकृत्यया। भागं देवेषु यज्ञियम् ॥८॥

(वह्नयः) राष्ट्ररूपी यज्ञ के वहन करनेवाले ऋभु (सुकृत्यया) अपनी उत्तम रचनाओं से (देवेषु) सूर्यादि दिव्यपदार्थों में

और सन्त महात्मा आदि चेतन देवताओं में (यज्ञियं) अपने यज्ञीय (भागं) भाग को (अधारयन्त) धारण करते हैं, और फिर उसका (अभजन्त) सेवन करते हैं।

—इति ऋग्वेद १ म०, २० सूक्त

(२)

[यजमान के द्वारा ऋभुओं की स्तुति]

६. ततं मे अपस्तदु तायते पुनः स्वादिष्ठा धीतिरुचथाय शस्यते। अयं समुद्र इह विश्वदेव्यः स्वाहाकृतस्य समु-तृप्णुत ऋभवः ॥१॥

(ऋभवः) हे ऋभुओ ! (मे अपः) मेरा कार्यक्षेत्र (ततम्) बहुत विस्तृत हो गया है। (तद् उ) और वह कार्यक्षेत्र (पुनः) और भी (तायते) विस्तृत होता जा रहा है। (स्वादिष्ठा) अत्यन्त मधुर तथा प्रिय (धीतिः) तुम्हारा ज्ञान और तदुत्पन्नकर्म (उचथाय शस्यते) तुम्हारी प्रख्याति के लिये बताया जाता है। (स्वाहाकृतस्य) राष्ट्ररूपी-यज्ञ के लिये आहुति रूप में डाले हुए पदार्थों का (इह) यहाँ (विश्वदेव्यः) सम्पूर्ण देवताओं के लिये पर्याप्त (अयं समुद्रः) यह समुद्र है। हे ऋभुओ ! (समुतृप्णुत) तुम अच्छी प्रकार तृप्त होओ।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि यजमान ऋभुओं से कह रहा है कि हे ऋभुओ ! आपके आविष्कारों के प्रभाव से मैंने नाना भाँति के मिल तथा कारखाने चालू किये हैं। उनसे मेरा कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत होगया है, और आगे भी विस्तृत होता जा रहा है। राष्ट्ररूपी महान् यज्ञ के लिये जो आहुति (स्वाहाकृतस्य) मैंने अलग रख छोड़ी है, वह समुद्र के समान है, और

सब देवताओं के लिये पर्याप्त है। हे ऋभुओ ! तुम आओ और इस समुद्र में से रस-पान कर तृप्त होवो।

१०. आभोगयं प्रयदिच्छन्त ऐतनापाकाः प्राञ्चो मम केचिदापयः। सौधन्वनासश्चरितस्य भूमनागच्छत सवि तुर्दाशुषो गृहम् ॥२॥

(प्राञ्चः) ऊँची गति वाले (अपाकाः) परिपक्क ज्ञान वाले और (आभोगयम्) चारों ओर से भोग्य पदार्थों की (इच्छन्तः) इच्छा वाले, हे ऋभुओ ! तुम (ऐतन) मेरे घर पर आओ। (मम) मेरी (केचित्) कुछ (आपयः) तुम से ज्ञान ग्रहण करने की इच्छायें हैं। (सौधन्वनासः) हे उत्तम अन्तरिक्ष वाले तुम (चरितस्य भूमना) अपने कार्य के महत्व से (दाशुषः) दान देने वाले (सवितुः) ऐश्वर्यशाली के (गृहमागच्छत) घर में आया करो।

११. तत्सविता वो अमृतत्वमासुवदगोह्यं यच्छ्रवयन्त ऐतन। त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम् ॥३॥

(तत्) उस दानशील (सविता) ऐश्वर्यशाली पुरुष ने (वः) तुम्हें (अमृतत्वमासुवद्) अमर बना दिया (यद्) जो (अगोह्यम्) गोपनीय नहीं है, उसको तुम (श्रवयन्तः) प्रजा जनों को सुनाते हुए (एतेन) आओ। (त्यं चित्) और उस (चमसम्) मस्तिष्क को (असुरस्य भक्षणम्) जो कि बुद्धि के उपयोग करने का साधन उस (एकं सन्तं) एक होते हुए को (चतुर्वयं अकृणुत) चार भागों में व्याप्त कर दो।

इस मन्त्र में यह बताया गया है कि सविता ने ऋभुओं के लिये अमृत का सवन किया। कौ० ६।१४। ऐ० १।३०॥७।१६॥ में आता है कि "सविता वै प्रसविता" "सविता वै प्रसवानामीशे" अर्थात् सविता प्रसव करने वाला है। वह प्रसव हुई हुई चीज़ का स्वामी है। गो० पू० १।३३॥ जै० उ० ४।२७।११ में कहा है कि "आदित्य एवसविता" श० ६।३।१।१८ में भी "असावादित्यो देवः सविता" ऐसा कहा है। इसलिये मन्त्र में पठित कि "सविता ने ऋभुओं के लिये अमृत का सवन किया" इसके दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि आदित्य ने एक नयी चीज़ का आविष्कार किया, और ऋभुओं को सारे राष्ट्र में व्याप्त करने के लिये दे दिया। सो उस आविष्कार को सारे राष्ट्र में व्याप्त करने से और उसके नये नये उपयोग ढूंढने से वे अमर बन गये। ऋभुओं के अमर बनने का यही तरीका है। अथवा इसका दूसरा अभिप्राय यह भी हो सकता है कि यजमान अर्थात् मिल मालिक ने ऋभुओं की देखरेख में कारखानों के द्वारा खूब माल तय्यार किया और ऋभुओं की जगह जगह स्तुति की। यहां 'अगोह्यम्' शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिये। आजकल वैज्ञानिक क्षेत्र में Trade secret आदि नामों से कई बातें गोपनीय होती हैं। वेद कहता है कि जो गोपनीय नहीं है उनको तुम सबको सुनाते हुए आओ।

१२. विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः सम्वत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः ॥४॥

(वाघतः) ज्ञान विज्ञानों को धारण करने वाले हे ऋभुओ!

तुम (तरणित्वेन) शीघ्रता से (शमी) अपने कर्मों को (विष्ट्वी) राष्ट्र में व्याप्त करके, उन्नत करके (मर्तासः सन्तः) मरणधर्मा होते हुए भी (अमृतत्वमानशुः) अमर हो जाते हो। (सूरचक्षसः) सूर्य के समान तेजस्वी (सौधन्वनाः) हे उत्तम धनुर्धारी (ऋभवः) ऋभुओ ! (संवत्सरे) वर्ष-भर में, सूर्य के समान (धीतिभिः) ज्ञानों और नाना कार्यों से (समपृच्यन्त) तुम सम्पर्क करते हो अर्थात् अपने आपको लगाये रहते हो।

१३. क्षेत्रमिव विममुस्तेजनेन एकं पात्रमृभवो जेहमानम्। उपस्तुता उपमं नाधमाना अमर्त्येषु श्रव इच्छमानाः ॥५॥

ऋभु लोग (श्रवः) जिसकी सब जगह चर्चा हो ऐसे पात्र को (इच्छमानाः) चाहते हुए (अमर्त्येषु) अमर व्यक्तियों में (उपमं) अपनी उपमा की (नाधमानाः) चाहना करते हुए (उपस्तुताः) स्तुति किये जाते हुए वे ऋभु (जेहमानम्) राष्ट्र-रूपी यज्ञ में होम-क्रिया के साधनभूत उस (एकं पात्रम्) एक चमस अर्थात् मस्तिष्क को (क्षेत्रमिव) खेत की तरह (तेजनेन) तेज के द्वारा अर्थात् उस मस्तिष्क की कान्ति द्वारा (विममुः) मापते हैं।

१४. आमनीषामन्तरिक्षस्य नृभ्यः स्रुचेव घृतं जुहवाम विद्मना। तरणित्वा ये पितुरस्य सश्चिर ऋभवो वाजमरुहन् दिवो रजः ॥६॥

(अन्तरिक्षस्य नृभ्यः) अन्तरिक्ष में वास करने वाले मनुष्यों के लिये अर्थात् ऋभुओं के लिये (स्रुचेव घृतम्) जिस प्रकार स्रुवा से यज्ञ में घी की आहुति डालते हैं, उसी प्रकार

(विद्मना) विज्ञान के द्वारा (आ) चारों ओर से (मनीषां जुहवाम) मनीषा को आहुति रूप में डालते हैं। और (ये ऋभवः) जो ऋभु (तरणित्वा) शीघ्रता से (पितुः सश्चिरे) सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं, वे ऋभु (अस्य दिवः रजः) इस मस्तिष्क रूपी द्युलोक के स्थानों में (वाजमरुहन्) खूब विचरते हैं। अर्थात् मस्तिष्क का काम खूब करते हैं।

१५. **ऋभुर्न इन्द्रः शवसा नवीयान् ऋभुर्वाजेभिर्वसुभिर्वसुर्ददिः। युष्माकं देवा अवसाहनि प्रियेभितिष्ठेम पृत्सुतीरसुन्वताम् ॥७॥**

(शवसा) बल के कारण (नवीयान्) सदा नवीन अथवा हमेशा नये नये शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाला (ऋभुः) ऋभु (नः इन्द्रः) हमारा राजा है। वह (ऋभुः) ऋभु (वाजेभिः वसुभिः) निवास देने वाले अन्नों के द्वारा (वसुः) सबको बसाने वाला है (ददिः) और सदा दानशील है। (देवाः) हे देवो! (युष्माकं) तुम्हारी (अवसा) रक्षा से (प्रिये अहनि) प्रिय तथा हितकर दिनों में रहते हुए हम (असुन्वतां) ऐश्वर्य के विरोधी शत्रुओं की (पृत्सुतीः) सेना को (अभितिष्ठेम) अभिभूत करें।

१६. **निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत संवत्सेनासृजता मातरं पुनः। सौधन्वनासः स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितरा कृणोतन ॥८॥**

(ऋभवः) ऋभुओं ने (गां) पृथिवी के (चर्मणः) चर्म अर्थात् ऊपरले हिस्से को (निरपिंशत) हटाया और फिर हल चला कर उसको अवयवों में विभक्त किया। (पुनः) फिर (मातरं) पृथ्वी माता का (वत्सेन समसृजत) वत्स अर्थात्

बीज से संसर्ग करा दिया (सौधन्वनासः) हे उत्तम शिल्पी (नरः) मनुष्यो (स्वपस्यया) अपने उत्तम कर्मों से (जिव्री) जीर्ण (पितरा) द्यावापृथिवी को (युवाना) युवा (कृणोतन) कर दो।

१७. वाजेभिर्नो वाजसातावविड्ढ्यृभुमाँ इन्द्र चित्रमादर्षि राधः। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥६॥

हे (ऋभुमान् इन्द्र) ऋभुओं वाले राजन् (वाजसातौ) युद्धों में (वाजेभिः) अन्नों से अथवा वैज्ञानिक सहायता से (नः) हमारी (अविड्ढि) तुम रक्षा करते हो। और हे इन्द्र ! तुम (चित्रं) नाना प्रकार के (राधः) अन्नों को (आदर्षि) प्रदान करते हो। (तत्) और (नः) हमें (मित्रः वरुणः, अदितिः, सिन्धुः, पृथिवी, उत द्यौः) मित्रादि ये दिव्य व्यक्ति और पदार्थ हमें (मामहन्ताम्) बढ़ावें।

—इति ऋग्वेद १ म०, ११० सू०

(३)

[ऋभुओं से पदार्थों की याचना]

१८. तक्षन् रथं सुवृतं विद्मनापसस्तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू। तक्षन् पितृभ्यामृभवो युवद्वयस्तक्षन् वत्साय मातरं सचाभुवम् ॥१॥

(विद्मनापसः[1]) विज्ञान की सहायता से कर्मों को करने वाले ऋभुओं ने (सुवृतं रथम्) उत्तम रचनायुक्त रथ (तक्षन्)

---

१. 'विद्मनापसः' का अर्थ है 'विद्मना' विज्ञान से 'अपसः' कर्म करने वाले।

बनाया। और (इन्द्रवाहा) इन्द्र अर्थात् राजा का वहन करने वाले (वृषण्वसू) धन की वर्षा करने वाले (हरी) विज्ञान और कलाएँ (तक्षन्) बनायीं। (ऋभवः) ऋभुओं ने (पितृभ्यां) द्यावापृथिवी की (युवद्वयः) मिश्रणामिश्रण की अवस्था (तक्षन्) पैदा की। (वत्साय) बीज के लिये (मातरं) पृथिवी माता को (सचाभुवम्) साथ रहने वाला (तक्षन्) बनाया।

१६. आ नो यज्ञाय तक्षत ऋभुमद्वयः क्रत्वे दक्षाय सुप्रजावतीमिषम्। यथा क्षयाम सर्ववीरया विशा तन्नः शर्धाय धासथा स्विन्द्रियम् ॥२॥

(नः) हमारे इस (यज्ञाय) ज्ञान-यज्ञ के लिये (ऋभुमद्वयः) ऋभु जिसमें विद्यमान हों ऐसी अवस्था (तक्षत) पैदा करो। अथवा (नः) हमारी (ऋभुमद्वयः) ऋभुओं जैसी अवस्था (तक्षन्) उत्पन्न करो। (क्रत्वे) कर्मशील बनने के लिये (दक्षाय) उत्तम वीर्य के लिये (सुप्रजावतीं) उत्तम सन्तानों वाले (इषम्) अन्न को (तक्षत) पैदा करो। (यथा) जिससे हम (सर्ववीरया विशा) सब प्रकार के वीरों वाली प्रजा से युक्त (क्षयाम) इस पृथिवी पर निवास करें। (तत्) उस (इन्द्रियम्) इन्द्र से सम्बन्धित सब प्रकार के ऐश्वर्य को (शर्धाय) बल के लिये (नः) हमें (सुधासथ) अच्छी प्रकार धारण करावो।

२०. आतक्षत सातिमस्मभ्यमृभवः सातिं रथाय सातिमर्वते नरः। सातिं नो जैत्रीं संमहेत विश्वहा जामिमजामिं पृतनासु सक्षणिम् ॥३॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ ! आप लोग (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सातिम्) उत्तम भोगयोग्य पदार्थों को (आतक्षत) भली प्रकार बनाओ। हे (नरः) नायक पुरुषो ! आप लोग (रथाय) रथ के लिये (अर्वते) अश्वादि के लिये (साति-मातक्षत) ऐश्वर्य पैदा करो। (सक्षणिम्) हमारा अभिभव चाहने वाले (जामिम्) बन्धु अथवा (अजामिम्) शत्रु इन दोनों को (पृतनासु) संग्रामों में (जैत्रीम्) जीतने वाली (नः सातिम्) हमारे धन सम्पत्ति को (विश्वहा) सब दिन सब कोई (संमहेत) आदर की दृष्टि से देखे।

२१. ऋभुक्षणमिन्द्रमाहुव ऊतये ऋभून्वाजान् मरुतः सोमपीतये। उभा मित्रावरुणा नूनमश्विना ते नो हिन्वन्तु सातये धिये जिषे ॥४॥

(ऋभुक्षणम्) ऋभुओं को निवास देने वाले (इन्द्रं) राजा को (ऊतये) रक्षा के लिये (आहुवे) आह्वान करता हूँ। (ऋभून् वाजान्) ऋभु विभ्वा वाज आदियों को (मरुतः) और मरुतों को (सोमपीतये) ज्ञानरूपी रस-धारा के पान के लिये बुलाता हूँ। और (उभा) युगल रूप में विद्यमान (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण को (अश्विनौ) और अश्वियों को (नूनं) निश्चय से बुलाता हूँ। (ते) वे सब (नः) हमें (सातये) दान देने के लिये (धिये) बुद्धि की प्राप्ति के लिये (जिषे) और विजय प्राप्त करने के लिये (हिन्वन्तु) प्रेरित करें।

२२. ऋभुर्भराय संशिशातु सातिं समर्यजिद्वाजो अस्माँ अविष्टु। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥५॥

(ऋभुः) ऋभु (भराय) युद्ध के लिये (साति) दातव्य धन अर्थात् अस्त्र-शस्त्र को (संशिशातु) उत्तम प्रकार से तीक्ष्ण करे अर्थात् युद्धोपयोगी साधनों का निर्माण करे। (समर्यजित्) युद्ध में विजयी होने वाला (वाजः) वाज (अस्मान्) हमारी (अविष्टु) रक्षा करे। शेषं पूर्ववत्।

—इति ऋग्वेद १ म०, १११ सू०

(४)

[अग्नि द्वारा कार्य का निरीक्षण और ऋभुओं के अपने अपने विशेष कार्य]

२३. **किमु श्रेष्ठः किं यविष्ठो न आजगन् किमीयते दूत्यं कद् यदूचिम। न निन्दिम चमसं यो महाकुलोऽग्ने भ्रातर्द्रुण इद्भूतिमूदिम ॥१॥**

जो यह अग्नि (नः आजगन्) हमारे पास आया है (किमु श्रेष्ठः) क्या यह हमसे श्रेष्ठ है (किं यविष्ठः) अथवा हमसे निकृष्ट है (किमीयते दूत्यम्) क्या यह देवों का दूत बन कर आया है (कद् यद् ऊचिम) किस प्रकार और क्या कह कर हम इसे बुलावें। अब वे ऋभु स्पष्ट रूप से अग्नि को कहते हैं। (द्रुण) सब को द्रवित करने वाले हे (भ्रातर् अग्ने) भाई अग्नि हम (चमसं न निन्दिम) चमस की निन्दा नहीं करते, क्यों कि (यः महाकुलः) यह त्वष्टा से निर्मित होने के कारण महाकुलोत्पन्न है। (इत् भूतिमूदिम) निश्चय से हम ऐश्वर्य को बताते हैं।

२४. **एकं चमसं चतुरः कृणोतन तद्वो देवा अब्रुवन् तद्व**

आगमम् । सौधन्वना यद्येवा करिष्यथ साकं देवै-
र्यज्ञियासो भविष्यथ ॥२॥

अग्नि ऋभुओं से कहता है कि—(एकं चमसं चतुरः कृणोतन) एक चमस के चार विभाग करो (तद्वः देवा अब्रुवन्) इस प्रकार देवताओं ने तुम्हें कहा है। (तद्वः आगमम्) और यही सुनाने के लिये मैं तुम्हारे पास आया हूँ । (सौधन्वनाः) हे उत्तम अन्तरिक्ष वाले (यद्येवा करिष्यथ) यदि तुम ऐसा करोगे तो (देवैः साकं) देवताओं के साथ (यज्ञियासो भविष्यथ) यज्ञिय भाग के हिस्सेदार होओगे ।

इस मन्त्र में कहा गया है कि यदि तुम ऐसा करोगे तभी तुम यज्ञिय भाग के भागी बनोगे ।

२५. अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतनाश्वः कर्त्वो रथ उतेह
कर्त्वः । धेनुः कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रात-
रनु वः कृत्व्येमसि ॥३॥

देवताओं ने (अग्निं दूतं प्रति यदब्रवीतन) अग्नि दूत को जो यह कहा है कि (अश्वः कर्त्वः) एक अश्व से दूसरा अश्व बनाना (रथ उतेह कर्त्वः) और रथ बनाना (धेनुः कर्त्वा) धेनु बनानी (द्वा युवशा कर्त्वा) पितरों को युवा करना (भ्रातर्) हे भाई अग्नि (तानि) उन सब कार्यों को (वः अनु) देवताओं के कथनानुसार (कृत्वी) करके (आ एमसि) हम उन देवताओं के पास पहुँचते हैं ।

२६. चकृवांस ऋभवस्तदपृच्छत क्वेदभूद्यः स्य दूतो न
आजगन् । यदावाख्यच्चमसाञ्चतुरः कृतानादित्त्वष्टा
ग्नास्वन्तर्न्यानजे ॥४॥

(चक्रवांस ऋभवः) जब वे ऋभु कार्य कर चुके (तद-पृच्छत) तब वे पूछने लगे (क्वेदभूद्यः स्य दूतो न आजगन्) वह दूत कहाँ चला गया जो हमारे पास आया था (यदावाख्यत् चमसान् चतुरः कृतान्) जब त्वष्टा ने चमस को चार हिस्सों में विभक्त देखा (आदित्) इसके अनन्तर ही (त्वष्टा ग्नास्वन्तर्न्यानजे) त्वष्टा अपने को स्त्री समझने लगा।

इस मन्त्र में आता है कि कार्य कर चुकने के पश्चात् जब ऋभु यह पूछने लगे कि वह अग्नि दूत कहाँ गया ? इसका तात्पर्य यह है कि कार्य के लिये जो संकल्पाग्नि धारण की हुई थी, कार्य के पूरा होने पर वह भी शान्त हो गई। इसी चीज को मन्त्र में उपाख्यान के रूप में दिखा रक्खा है। आगे मन्त्र में जो यह कहा गया है कि त्वष्टा ने जब चमस के चार विभाग देखे तब वह अपने को स्त्री समझने लगा। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्त्री सन्तान का निर्माण करती है, उसी प्रकार त्वष्टा भी निर्माण करने वाला है। यह हम त्वष्टा के प्रकरण में दिखा आये हैं। सृष्टि में सर्वोत्तम यदि कोई उत्पत्ति है तो मनुष्य की उत्पत्ति है, उसी के आधार पर सारी उत्पत्तियाँ होती हैं। इस लिये उत्पत्ति कर्ता को वैदिक प्रणाली के अनुसार स्त्री भी कह दिया जाता है। इसी लिये त्वष्टा को भी यहाँ स्त्री कह दिया गया है। अथवा इसका यह भी भाव हो सकता है कि त्वष्टा ने चमस अर्थात् मस्तिष्क को जब चार में विभक्त देखा तब उस सारी विभाग की क्रिया से अनुभव लेकर वह स्त्रियों में उत्तम सन्तति पैदा करने लग गया। अर्थात् अमुक व्यक्ति की इस प्रकार की उत्पत्ति हुई थी, वह चार विभागों में से अमुक विभाग में आया है, इस लिये अब अमुक प्रकार का व्यक्ति बनाने के

लिये उत्पत्ति किस प्रकार करनी चाहिये—इस बात की परीक्षा के लिये स्त्रियों में चला गया।

२७. हनामैनाँ इति त्वष्टा यदब्रवीच्चमसं ये देवपानमनिन्दिषुः। अन्या नामानि कृण्वते सुते सचाँ अन्यैरेनान् कन्या नामभिः स्परत् ॥५॥

(ये) जो ऋभु (देवपानं चमसमनिन्दिषुः) इन्द्रियों के ज्ञानधारा के पान के साधन मस्तिष्क की निन्दा करते हैं (हनामैनान्) उनको मारा जाता है (इति त्वष्टा यदब्रवीत्) इस प्रकार त्वष्टा ने जब कहा। अगले मन्त्रार्ध का भावार्थ क्या है; यह अभी तक स्पष्ट नहीं हुआ है।

२८. इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत। ऋभुर्विभ्वा वाजो देवाँ अगच्छत स्वपसो यज्ञियं भागमैतन ॥६॥

(इन्द्रः हरी युयुजे) राजा ने राष्ट्र-रूपी रथ में हरी का योग किया (अश्विना रथम्) अश्वियों ने रथ को सम्भाला (बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत) बृहस्पति ने नानाविषय सम्बन्धी साहित्य को ग्रहण किया और (ऋभुः विभ्वा वाजः) ऋभु विभ्वा और वाज (देवान् अगच्छत) देवताओं के पास गये (स्वपसः) उत्तम कर्म करने के कारण उन्होंने (यज्ञियं भागमैतन) अपने यज्ञिय भाग को प्राप्त किया।

२९. निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ता कृणोतन। सौधन्वना अश्वादश्वमतक्षत युक्त्वा रथमुपदेवाँ अयातन ॥७॥

हे ऋभुओ (धीतिभिः) अपने बुद्धियुक्त कर्मों से (गां) पृथिवी को (चर्मणः) ऊपरले स्तर से (निरिणीत) अलग कर दो (या जरन्ता युवशा ता कृणोतन) और जो जीर्ण-शीर्ण पितर हैं उन्हें युवा बना दो। और हे (सौधन्वनाः) अन्तरिक्षस्थ ऋभुओ (अश्वादश्वमतक्षत) अश्व से अश्व को पैदा करो (रथं-युक्त्वा) रथ को जोड़ कर (देवान् उप अयातन) देवताओं के पास आओ।

३०. इदमुदकं पिवतेत्यब्रवीतनेदं वा घा पिवता मुञ्जने-जनम् । सौधन्वना यदि तन्नेव हर्यथ तृतीये घा सवने मादयाध्वै ॥८॥

हे (सौधन्वनाः) उत्तम अन्तरिक्ष वाले ऋभुओ ! तुम (इत्यब्रवीतन) प्रजाओं को ऐसा उपदेश दिया करो कि (इदमुदकं पिवत) इस प्रकार का जल पीओ (इदं वा घा पिवत मुञ्जने-जनम्) मुञ्ज आदि ओषधियों से शुद्ध किये हुए रसों का पान किया करो हे ऋभुओ, (यदि तन्नेव हर्यथ) यदि तुम इन भोग्य पदार्थों को पसन्द न करो तो (तृतीये सवने मादयाध्वै) तृतीयसवन में विद्यारूपी-रस का पान कराओ और आनन्दित करो।

३१. आपो भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत् । वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वद-न्तश्चमसाँ अपिंशत ॥९॥

(आपो भूयिष्ठा इति एकः अब्रवीत्) ऋभुओं में से एक ने कहा कि सर्वत्र व्यापक जल के समान व्यापक गुणों वाले तथा शान्त-मुद्रा वाले ब्राह्मण हों (अग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्)

उनमें से दूसरे ने कहा कि अग्नि के समान तेजस्वी गुणों वाले हों, (वधर्यन्तीं बहुभ्यः प्रैको अब्रवीत्) उनमें से तीसरे ने कहा कि भूमि सम्बन्धी कामनाओं वाले वैश्य हों, इस प्रकार (ऋता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत) ऋत का प्रवचन करते हुए उन्होंने चमस के चार विभाग कर दिये। अथवा इसका यह भी भाव होसकता है कि उन्होंने जलीय, तैजस तथा भूमि सम्बन्धी ज्ञान के विशेषज्ञ तय्यार किये।

३२. श्रोणामेक उदकं गामवाजति मांसमेकः पिंशति सूनयाभृतम् । आनिम्रुचः शकृदेको अपाभरत् किंस्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः ॥१०॥

(एकः) उन ऋभुओं में से एक (उदकं श्रोणां गामवाजति) हल आदि चला कर उत्तम बनायी हुई पृथिवी में जल को यन्त्र द्वारा नीचे से ऊपर की ओर लाता है। (एकः सूनयाभृतं मांसं पिंशति) उनमें से दूसरा छेदन के साधन से इकट्ठे किये हुए पृथिवी के मांस को उत्तम रूप देता है। (आनिम्रुचः शकृदेको अपाभरत्) और उनमें से तीसरा सायंकाल तक प्रतिदिन भूमि में आयी हुई मलराशि को दूर करता है। (किं स्वित् पुत्रेभ्यः पितरा उपावतुः) पुत्रों के लिये पितर भला ! क्या प्राप्त करावें। अर्थात् बीजवपन के लिये सब सामान ऋभु ही पैदा कर देते हैं, उन्हें द्युलोक तथा भूलोक पर आश्रित नहीं होना पड़ता। अर्थात् वर्षा कब हो, या बोने की ऋतु कब हो इत्यादि द्यावापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले साधनों पर वे आश्रित नहीं रहते।

३३. उद्वत्स्वस्मा अकृणोतना तृणं निवत्स्वपः स्वपस्यया

नरः । अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानुगच्छथ ॥११॥

(अस्मै) इस गवादि पशु के लिये (नरः) हे मनुष्यो! तुम (स्वपस्यया) अपने उत्तम कर्मों के प्रभाव से (उद्वत्सु) ऊँचे पर्वत आदि स्थानों पर (तृणं अकृणोतन) घास पैदा कर देते हो। (निवत्सु अपः) और निचले प्रदेशों में जल इकट्ठा कर देते हो। हे! (ऋभवः) ऋभुओ (अगोह्यस्य) अगोह्य जो आदित्य विद्वान् हैं उनके (यत्) जब (गृहे) घर में (असस्तन) रहते हो (तदा) तब (अद्य) उस समय (इदं नानुगच्छथ) राष्ट्र में प्रचारित काम का ध्यान नहीं रखते हो। अर्थात् जिस समय आदित्य (वैज्ञानिक) के घर जाकर वे नये अन्वेषण करते हैं, उस समय राष्ट्र में प्रचलित कार्यों पर वे पूर्ण ध्यान नहीं दे सकते।

३४. सम्मील्य यद् भुवना पर्यसर्पत क्व स्वित्तात्या पितरा व आसतुः । अशपत यः करस्नं व आददे प्राब्रवीत् प्रोतस्मा अब्रवीतन ॥१२॥

हे ऋभुओ (सम्मील्य) आपस में मिलकर (यद् भुवना पर्यसर्पत) जब तुमने भुवनों में स्थित पदार्थों का पर्यवेक्षण किया (क्व स्वित् तात्या पितरा व आसतुः) तो उस समय उन में विद्यमान मातृत्व और पितृत्व भला कहां छिपे रहते। (यः) जो पदार्थ (वः करस्नमाददे) तुम्हारा हाथ रोकता है अर्थात् उसमें तुम्हारी गति नहीं होती तो (अशपत) उसके ऊपर तुम और भी झुंझला कर पड़ते हो—अर्थात् उसके स्वरूपावलोकन में और भी तन-मन-धन से लग जाते हो (यः प्राब्रवीत्) और जिस

पदार्थ ने उनके सामने अपने स्वरूप को खोल दिया (प्रोतस्मा अब्रवीतन) उसकी वे ऋभु बहुत प्रशंसा करते हैं।

३५. सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्। श्वानं वस्तो बोधयितारमब्रवीत् संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ॥१३॥

(सुषुप्वाँसः ऋभवः) अन्वेषण में तल्लीन ऋभुओं ने (तद् अपृच्छत) उस आदित्य से पूछा (अगोह्य) हे अगोपनीय विद्वन् (कः इदं न अबूबुधत्) यह रहस्य हमें किसने बताया है। (वस्तः) सब पदार्थों के रहस्य को जानने वाले आदित्य ने (श्वानं बोधयितारमब्रवीत्) प्रकृति को ज्ञाता बतलाया (संवत्सर इदमद्या व्यख्यत) हे ऋभुओ ! वर्ष भर में अब तुमने इस रहस्य की व्याख्या की।

इसका तात्पर्य यह है कि ऋभु आदित्य नामक विद्वानों के पास अन्वेषण आदि में लगे रहते हैं। काफी अरसे के पश्चात् जब रहस्य का पता चलता है, तब वे ऋभु राष्ट्र में उसकी व्याख्या करते हैं अर्थात् उसका प्रचार करते हैं।

३६. दिवा यान्ति मरुतो भूम्याग्निरयं वातो अन्तरिक्षेण याति। अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैर्युष्माँ इच्छन्तः शवसो नपातः ॥१४॥

हे (शवसो नपातः) बल से च्युत न होने वाले ऋभुओ ! (युष्माँ इच्छन्तः) तुम्हारी कृपा तथा शक्ति को चाहते हुए (मरुतः दिवा यान्ति) मरुत द्युलोक से चलते हैं (अग्निः भूम्या) अग्नि भूमि से (अयं वातो अन्तरिक्षेण याति) यह

वायु अन्तरिक्ष से चलता है (वरुणः) और वरुण (समुद्रैर्-द्भिर्याति) समुद्रीय जल से जाता है।

—इति ऋग्वेद १ म०, १६१ सू०

(५)

[कार्य-समाप्ति पर इन्द्रादि देवों से मित्रता और यज्ञिय भाग की प्राप्ति]

३७. इहेह वो मनसा बन्धुता नर उशिजो जग्मुरभि तानि वेदसा। याभिर्मायाभिः प्रतिजूतिवर्पसः सौधन्वना यज्ञियं भागमानश ॥१॥

(उशिजः) ऐश्वर्य की इच्छा वाले, (नरः) हे मनुष्य ऋभुओ ! (वः) तुम्हारे (बन्धुता) कर्म (इह इह) इस इस यज्ञ में (मनसा) मनोयोगपूर्वक होते हैं। (तानि) उन कर्मों को (वेदसा अभिजग्मुः) विज्ञान से युक्त करो (याभिर्मायाभिः) जिन बुद्धि के प्रभावों से (प्रतिजूतिवर्पसः) प्रतिपक्षी के तेज का अभिभव करते हो, हे (सौधन्वनाः) उत्तम धनुर्धारी पुरुषो ! तुम उनके कारण (यज्ञियं भागमानश) अपने यज्ञीय भाग को प्राप्त करते हो।

३८. याभिः शचीभिश्चमसाँ अपिंशत यया धिया गामरिणीत चर्मणः। येन हरी मनसा निरतक्षत तेन देवत्वमृभवः समानश ॥२॥

(याभिः) जिन (शचीभिः) बुद्धियों से (चमसान्) मस्तिष्कों को (अपिंशत) चार में विभक्त किया (यया) जिस (धिया) बुद्धिपूर्वक कर्म से (गां) पृथिवी को (चर्मणः) ऊपरले

स्तर से (अरिणीत) अलग किया (येन) जिस (मनसा) मनन शक्ति से (हरी) विज्ञान और कलाओं का (निरतक्षत) निर्माण किया (तेन) उससे हे (ऋभवः) ऋभुओ (देवत्व-मानश) तुम देवत्व को प्राप्त हुए हो ।

३९. इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुर्मनोर्नपातो अपसो दधन्विरे । सौधन्वनासो अमृतत्वमेरिरे विष्ट्वी शमीभिः सुकृतः सुकृत्यया ॥३॥

(ऋभवः) ऋभु लोग (इन्द्रस्य सख्यम्) राजा की मित्रता को (समानशुः) प्राप्त कर लेते हैं । (मनोर्नपातः) मनन शक्ति को न छोड़ने वाले वे ऋभु (अपसो दधन्विरे) नानाविध कर्मों को धारण करते हैं । (सौधन्वनासः) अन्त-रिक्ष में विचरने वाले (सुकृतः) उत्तम कर्म करने वाले ऋभु (शमीभिः) नानाविध कर्मों से और (सुकृत्यया) उत्तम रच-नाओं से (विष्ट्वी) व्याप्त होकर (अमृतत्वमेरिरे) अमरपन को प्राप्त होते हैं ।

४०. इन्द्रेण याथ सरथं सुते सचाँ अथो वशानां भवथा सह श्रिया । न वः प्रतिमै सुकृतानि वाघतः सौध-न्वना ऋभवो वीर्याणि च ॥४॥

हे (वाघतः) नानाविज्ञानों को धारण करने वाले (सौध-न्वनाः) उत्तम धनुर्धारी (ऋभवः) ऋभुओ (सुते) ज्ञानरूपी सोम-रस के निष्पादन करने वाले यज्ञ में (इन्द्रेण सचा) राजा के साथ (सरथम्) एक रथ पर आरूढ़ होकर (याथ) जाओ । (अथ) और (वशानां) उच्चकोटि के ज्ञान के कारण वश में आये हुए मनुष्यों की (श्रिया) लक्ष्मी के (सह) साथ

(भवथ) युक्त होवो। हे ऋभुओ ! (वः) तुम्हारी (सुकृतानि) उत्तम रचनायें (वीर्याणि च) और शक्तियां (न प्रतिमै) कोई भी माप नहीं सकता।

४१. इन्द्र ऋभुभिर्वाजवद्भिः समुक्षितं सुतं सोममावृषस्वा गभस्त्योः। धियेषितो मघवन् दाशुषो गृहे सौधन्वनेभिः सह मत्स्वा नृभिः ॥५॥

हे (इन्द्र) राजन् (वाजवद्भिः ऋभुभिः) वाज वाले ऋभुओं से (समुक्षितं) अच्छी प्रकार सींचे गये (सुतं) और उत्पन्न किये गये (सोमं) ऐश्वर्य को (गभस्त्योरावृषस्व) अपने दोनों बाहुओं से पुष्ट करो अर्थात राज्य के ऐश्वर्य यथाशक्ति बढ़ाओ। (मघवन्) हे ऐश्वर्यशाली राजन् ? (दाशुषोगृहे) दानशील व्यक्ति के घर में (धियेषितः) बुद्धि तथा कार्यों से प्रेरित हुए हुए आप (सौधन्वनेभिः नृभिः सह) अन्तरिक्ष में विचरने वाले मनुष्य ऋभुओं के साथ (मत्स्व) आनन्द का उपभोग करो।

४२. इन्द्र ऋभुमान् वाजवान् मत्स्वेह नोस्मिन् सवने शच्या पुरुष्टुत। इमानि तुभ्यं स्वसराणि येमिरे व्रता देवानां मनुषश्च धर्मभिः ॥६॥

(पुरुष्टुत) बहुतों से स्तुति किये जाते हुए (ऋभुमान्) ऋभु वाले (वाजवान्) और वाज वाले (इन्द्र) राजन् (इह) यहाँ (नः सवने) हमारे सवन में (शच्या) अपनी शक्ति से (मत्स्व) आनन्दित होओ। और (देवानां मनुषश्च धर्मभिः) देवताओं और मनुष्यों के धर्मों से (इमानि व्रतानि स्वसराणि तुभ्यं येमिरे) ये व्रतयुक्त दिन तेरे लिये नियत हैं। अर्थात् राजा

का यह कर्तव्य है कि वह भी देवताओं और मनुष्यों के धर्मों का स्वयं भी पालन करे।

४३. इन्द्र ऋभुभिर्वाजिभिर्वाजयन्निह स्तोमं जरितुरुप याहि यज्ञियम्। शतं केतेभिरिषिरेभिरायवे सहस्रणीथो अध्वरस्य होमनि ॥७॥

हे (इन्द्र) राजन् (इह) इस संसार में (ऋभुभिर्वाजिभिः) वेगादि गुणों से युक्त ऋभुओं के द्वारा (वाजयन्) शक्तिशाली होता हुआ (जरितुः स्तोमं) स्तुति करने वाले विद्वान् की स्तुति को (उपयाहि) प्राप्त हूजिये। (इषिरेभिः) सर्वत्र गति रखने वाले (शतंकेतेभिः) सैकड़ों विद्वान् पुरुषों के साथ (आयवे) यजमान पुरुष के लिये (सहस्रणीथः) हजारों मनुष्यों से युक्त (अध्वरस्य होमनि) हिंसारहित यज्ञ में तू आ।

—इति ऋग्वेद ३, म० ६० सू०

(६)

[ऋभुओं के कार्य का विस्तृत वर्णन]

४४. प्र ऋभुभ्यो दूतमिव वाचमिष्ये उपस्तिरे श्वैतरीं धेनुमीडे। ये वातजूतास्तरणिभिरेवैः परि द्यां सद्यो अपसो बभूवुः ॥१॥

(ऋभुभ्यः) ऋभुओं से (दूतमिव) दूत की तरह (वाचम्) ज्ञान को (प्र इष्ये) चाहता हूँ। (उपस्तिरे) उस ज्ञान के उपस्तरण के लिये (श्वैतरीम्) वृद्धिशील (धेनुम्) साहित्य की मैं (ईडे) उपासना करता हूँ। (ये) जो ऋभु लोग (वातजूताः) वायु से चलाये हुए हैं (एवैः) गतिशील

(तरणिभिः) तरणियों अर्थात् यानों द्वारा (द्यां परि) द्युलोक के चारों ओर (सद्यः बभूवुः) थोड़े समय में ही हो आते हैं और फिर उनके (अपसः) कर्म भी द्युलोक के चारों ओर फैल जाते हैं।

४५. यदारमक्रन्नृभवः पितृभ्यां परिविष्टी वेषणा दंसनाभिः। आदिद्देवानामुपसख्यमायन्धीरासः पुष्टिमवहन् मनायै ॥२॥

(यदा) जब (ऋभवः) ऋभुओं ने (पितृभ्यां) पितरों अर्थात् पदार्थों में (परिविष्टी) अच्छी तरह से प्रवेश कर (वेषणा) और उनको राष्ट्र में फैला कर (दंसनाभिः) और उनसे उत्तम उत्तम कार्य लेकर (अरमक्रन्) राष्ट्र को अलंकृत कर दिया तब (आदित्) उसके अनन्तर ही वे ऋभु (देवानाम्) देवताओं के (सख्यमुपायन्) मित्रभाव को प्राप्त हुए। (धीरासः) वे धैर्य्य से अन्वेषण में लगे रहते हैं और (मनायै) अपने ज्ञान से (पुष्टिमवहन्) राष्ट्र की पुष्टि करते रहते हैं।

४६. पुनर्ये चक्रुः पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना। वाजो विभ्वा ऋभुरिन्द्रवन्तो मधुप्सरसो नोऽवन्तु यज्ञम् ॥३॥

(ये) जो ऋभु लोग (सना) सदा से (यूपेव जरणा शयाना) यूप की तरह जीर्ण हुए हुए शयन कर रहे (पितरा) द्यावापृथिवी में स्थित पदार्थों को (पुनर्युवाना चक्रुः) फिर युवा कर देते हैं। (वाजो विभ्वा ऋभुरिन्द्रवन्तः) वे इन्द्र वाले वाज, विभ्वा और ऋभु और (मधुप्सरसः) सुन्दर रूप वाले (नः यज्ञमवन्तु) हमारे इस राष्ट्ररूपी-यज्ञ की रक्षा करें।

४७. यत्संवत्समृभवो गामरक्षन् यत्संवत्समृभवो मा अपिंशन्। यत्संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभिः शमीभिरमृतत्वमाशुः ॥४॥

(यत्) जो (संवत्सम्) वत्स अर्थात् बीज से युक्त (गाम्) पृथिवी की (ऋभवः) ऋभुलोग (अरक्षन्) रक्षा करते हैं। (यत्) जो (संवत्सम्) बीज से युक्त तथा (माः) अङ्कुरादि निर्माणकर्त्री अवस्था में आयी हुई पृथिवी का (ऋभवः) ऋभु लोग (अपिंशन्) निलाई आदि करके उत्तम कलेवर बनाते हैं और (यत्) जब (संवत्सम्) बीज से युक्त (अस्याः) उस पृथिवी के अन्दर (भासः) तेज, गरमी, आदि (अभरन्) धारण कराते हैं, तब (ताभिः शमीभिः) उन कार्यों के करने से ऋभु लोग (अमृतत्वमाशुः) अमरपद प्राप्त करते हैं।

सायण ने "संवत्सम्" शब्द का एक अर्थ तो "वत्सेन-सह" इस प्रकार किया है। दूसरा अर्थ "संवसन्ति भूतानि अस्मिन्निति संवत्सः संवत्सरः संवत्सरपर्यन्तम्" अर्थात् संवत्सं का संवत्सरपर्यन्तम् ऐसा किया है। इससे भी मन्त्र का एक और सुन्दर अर्थ हो जाता है और एक नयी बात भी पता चलती है—वह इस प्रकार है।

(यत्) जो कि (संवत्सम्) एक वर्ष तक (ऋभवः) ऋभुओं ने (गाम्) उस उर्वराशक्ति से रहित हो चुकी पृथिवी की (अरक्षन्) रक्षा की (यत्) और फिर (संवत्सम्) एक वर्ष तक (ऋभवः) ऋभुओं ने (माः) अंकुरों को निर्माण करने के योग्य उसका (अपिंशन्) हल आदि चलाकर उत्तम कलेवर बनाया, और फिर (संवत्सम्) एक वर्ष तक (अस्याः) इस पृथिवी के अन्दर (भासः) तेज गरमी आदि (अभरन्)

पहुंचायी। (ताभिः शमीभिः) इन कर्मों के करने से ऋभु (अमृतत्वमाशुः) अमरपद को प्राप्त हुए।

४८. ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह । कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत् पनयद् वचो वः ॥५॥

(ज्येष्ठ आह) सबसे बड़े ऋभु ने कहा (चमसा द्वा करेति) चमस के दो विभाग करो (कनीयान्) मझले विभ्वा ने (त्रीन् कृण्वाम) तीन करें (इत्याह) ऐसा कहा (कनिष्ठ आह) सबसे छोटे ने कहा कि (चतुरस्कर) चार करें (इति) इस प्रकार (त्वष्ट) हे त्वष्टा (ऋभवः) तेरे शिष्य ऋभुओं ने (तद् वः वचः) तुम्हारा वह वचन (पनयद्) पूरा किया।

४९. सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनुस्वधामृभवो जग्मुरेताम्। विभ्राजमानाँश्चमसाँ अहेवावेनत् त्वष्टा चतुरो ददृश्वान् ॥६॥

(नरः) उन ऋभुओं ने (सत्यमूचुः) सत्य बोला (एवा हि चक्रुः) और वैसा ही किया। इसके अनन्तर (एतां स्वधाम) इस स्वधा को (अनुजग्मुः) प्राप्त किया। (अहेव) दिन की तरह (अवेनत्) अपने ज्ञान से चमकते हुए (त्वष्टा) उस त्वष्टा ने (विभ्राजमानान्) ज्ञानरूपी-किरणों से चमकते हुए (चतुरः चमसान्) उन चार चमसों को (ददृश्वान्) देखा।

५०. द्वादशद्यून् यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः। सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून् धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः ॥७॥

(ससन्तः ऋभवः) नवीनान्वेषण में तल्लीन ऋभु (द्वादशद्यून्) बारहों महीने (यद्) जो कि (अगोह्यस्यातिथ्ये रणन्) गुप्त न रखने लायक ज्ञान के आतिथ्य में लगे रहते हैं। ज्ञानान्वेषण के अनन्तर (सुक्षेत्राकृण्वन्) उत्तम २ खेत बनाते हैं, (अनयन्त सिन्धून्) नहरों को लाते (धन्व ओषधीः अतिष्ठन्) पृथिवी से ऊपर की ओर अन्तरिक्ष में ओषधियाँ विद्यमान हों और (निम्नमापः) निचले प्रदेशों में पानी भरा हो। अर्थात् कृषि की सिंचाई के लिये तालाब आदि बने हों। ऐसा वे उपाय करते हैं।

५१. रथं ये चक्रुः सुवृतं नरेष्ठां ये धेनुं विश्वजुवं विश्वरूपाम्। त आतक्षन्त्वृभवो रयिं नः स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः ॥८॥

(ये) जो ऋभु (नरेष्ठाम्) मनुष्य जिस में बैठते हों ऐसे (सुवृतम्) उत्तम रचना वाले (रथं चक्रुः) रथ का निर्माण करते हैं। (ये) और जो ऋभु (विश्वजुवं विश्वरूपाम्) सबको प्रेरणा देनेवाली तथा नाना रूपों वाली। (धेनुम्) साहित्य-रूपी धेनु का तक्षण करते हैं, (ते) वे (स्ववसः स्वपसः सुहस्ताः) उत्तम रक्षा-साधनों वाले उत्तम कर्मों वाले और श्रेष्ठ हाथों वाले ऋभु (नः) हमारे लिये (रयिं आतक्षन्तु) ऐश्वर्य का तक्षण करें।

५२. अपो ह्येषामजुषन्त देवा अभि क्रत्वा मनसा दीध्यानाः। वाजो देवानामभवत् सुकर्मेन्द्रस्य ऋभुक्षा वरुणस्य विभ्वा ॥९॥

(मनसा) ज्ञान से (क्रत्वा) और कर्म से (अभिदीध्यानाः

देवाः) प्रदीप्त हुए हुए अन्य देव (एषामपः अजुषन्त) ऋभुओं से निर्मित पदार्थों का सेवन करते हैं। इसका फल यह हुआ कि (वाजः देवानां सुकर्मा अभवत्) वाज देवताओं में सुकर्मा कहलाया (इन्द्रस्य ऋभुक्षा) ऋभु का सम्बन्ध इन्द्र से हो गया (वरुणस्य विभ्वा) और विभ्वा का सम्बन्ध वरुण से हो गया।

५३. ये हरी मेधयोक्था मदन्त इन्द्राय चक्रुः सुयुजा ये अश्वा। ते रायस्पोषं द्रविणान्यस्मे धत्त ऋभवः क्षेमयन्तो न मित्रम् ॥१०॥

(उक्थैर्मदन्तः) स्तुतियों से प्रसन्न हुए हुए (ये) जिन ऋभुओं ने (मेधया) मेधा शक्ति से (सुयुजौ) उत्तमरूप में लगे हुए (अश्वौ) शीघ्रगामी तथा व्यापक (हरी) विज्ञान और कला नाम के दो हरी (चक्रुः) बनाये। (ते) वे ऋभु (क्षेमयन्तो न मित्रम्) मित्र की तरह कल्याण करते हुए (अस्मे) हमारे लिये (द्रविणानि) धन और (रायस्पोषं) ऐश्वर्य की पुष्टि (धत्त) करें।

५४. इदाह्नः पीतिमुत वो मदं धुर्न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ते नूनमस्मे ऋभवो वसूनि तृतीयेऽस्मिन् सवने दधात ॥११॥

(इदा) अब (अह्नः पीतिम्) ज्ञान का उपभोग करो (उत) और (मदंधुः) आनन्दित होवो। (ऋते श्रान्तस्य) बिना परिश्रम के (देवाः सख्याय न) देवता लोग मित्र नहीं बनते (ते ऋभवः) वे ऋभु (अस्मे) हमें (अस्मिन् तृतीये सवने)

इस तृतीयसवन में (नूनं) निश्चय से (वसूनि दधात) ऐश्वर्य देवें ।

—इति ऋग्वेद ४ म०, ३३ सू०

(७)

[ऋभु तथा अन्य देवों से रक्षा के लिये प्रार्थना]

५५. ऋभुर्विभ्वा वाज इन्द्रो नो अच्छेमं यज्ञं रत्नधेयोपयात । इदाहि वो धिषणा देव्यह्नामधात् पीतिं संमदा अग्मता वः ॥१॥

(ऋभु) ऋभु (विभ्वा) विभ्वा (वाजः) वाज और (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् राजा (नः इमं यज्ञं) हमारे इस यज्ञ की (अच्छ) ओर (रत्नधेयोपयात) पदार्थों में रमणीयता पैदा करने के लिये आवें । (इत्) और (हि) निश्चय से (वः) तुम्हारी (धिषणा देवी) दिव्य गुणयुक्त बुद्धि (अह्नां पीतिम्) ज्ञानरस का पान (अधात्) करे (वः) तुम्हारे (मदाः) आनन्द (सम् आ अग्मत) मिल कर हों ।

५६. विदानासो जन्मनो वाजरत्ना उत ऋतुभिर्ऋभवो मादयध्वम् । सं वो मदा अग्मत सं पुरन्धिः सुवीरामस्मे रयिमेरयध्वम् ॥२॥

(वाजरत्ना) अन्नरूपी रत्नों को (जन्मनः) उनके जन्म से (विदानासः) जानते हुए (ऋभवः) ऋभु लोग, अथवा (वाजरत्ना) अन्नरूपी रत्नों को धारण करने वाले (जन्मनः विदानासः) जन्म से विद्यालाभ करते हुए अथवा श्रेष्ठ पदार्थों को उनके जन्म से ही जानने वाले (ऋभवः) ऋभु लोग (ऋतु-

भिर्मादयध्वम्) ऋतुओं से या पदार्थों से आनन्दित होवें। (वः मदाः समग्मत) तुम्हारे आनन्द मिलकर हों, (सं पुरन्धिः) बहुतों को धारण करने वाला कार्य मिलकर हो। तुम सुवीरां रयिं अस्मे ईरयध्वम्) उत्तम सन्तान पैदा करने की शक्ति रखने वाली रयि हमें दो।

'ऋतु' शब्द भूतों अर्थात् पदार्थों में भी प्रयुक्त होता है। श० ६।७।३।८ में कहा है कि 'यद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते'। अर्थात् जितने भूत (पदार्थ) हैं वे सब ऋतु शब्द से कहे जाते हैं।

५७. अयं वो यज्ञ ऋभवोऽकारि यमा मनुष्वत् प्रदिवो दधिध्वे। प्र वो अच्छा जुजुषाणासो अस्थुरभूत विश्वे अग्रियोत वाजाः ॥ ३ ॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ (अयं यज्ञः) यह यज्ञ (वः) तुम्हारे लिये (अकारि) बनाया गया है (यं) जिस यज्ञ को तुम (मनुष्वत) मनन शक्ति की तरह (दिवः प्रदधिध्वे) द्यूलोक अर्थात् दिमाग से अच्छी प्रकार धारण करते हो। (वाजाः) हे भूमि से सम्बन्ध रखने वाले ऋभुओ (वः) तुम्हारे में जो इस यज्ञ को (अच्छ) उत्तम रीति से (जुजुषाणासः) सेवन करते हुए (प्र अस्थुः) आगे आगे बढ़ते जाते हैं (विश्वे) वे सभी (अग्रिया उत वाजा अभूत) मुखिया अर्थात् प्रधान और बलवान् बन जाते हैं।

५८. अभूदु वो विधते रत्नधेयमिदा नरो दाशुषे मर्त्याय। पिवत वाजा ऋभवो ददे वो महि तृतीयं सवनं मदाय ॥ ४ ॥

हे (नरः) मनुष्य ऋभुत्रो ! (वः विधते) तुम्हारी सब प्रकार से सेवा करने वाले (दाशुषे) दान देने वाले (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (इदा) अब (रत्नधेयमभूत) रमणीय पदार्थों की प्राप्ति हो (वाजाः ऋभवः) हे वाज ऋभुत्रो ! (वः मदाय) तुम्हारे आनन्द के लिये (महि तृतीयं सवनं) महान् तृतीय सवन (ददे) दिया हुआ है, उससे (पिवत) ज्ञान, रस का पान करो।

५६. आवाजा यातोप न ऋभुक्षा महो नरो द्रविणसो गृणानाः । आ वः पीतयोऽभिपित्वे अह्नामिमा अस्तं नवस्व इव ग्मन् ॥५॥

(वाजाः) हे वाज ऋभुत्रो और (ऋभुक्षा नरः) महान् ऋभु मनुष्यो ! (महः द्रविणसः) महान् ऐश्वर्य का (गृणानाः) उपदेश करते हुए (नः उप आयात) हमारे पास आओ (अह्ना-मभिपित्वे) नये तत्व की प्राप्ति पर (इमाः पीतयः) सोम सम्बन्धी यह नया पान (अस्तं) घर में (नवस्व इव) नये उत्पन्न पुत्र की तरह हमारे इस यज्ञ में (आ अग्मन्) प्राप्त होवे ।

६०. आ नपातः शवसो यातनोपेमं यज्ञं नमसा हूयमानाः । सजोषसः सूरयो यस्य च स्थ मध्वः पात रत्नधा इन्द्रवन्तः ॥६॥

हे (शवसो नपातः) बल से च्युत न होने वाले ऋभुओ ! (नमसा हूयमानाः) आदर पूर्वक स्तुतियों से आह्वान किये हुए तुम (इमं यज्ञं उप आयातन) इस यज्ञ में शरीक होवो। (सजोषसः) परस्पर प्रेमपूर्वक रहते हुए (सूरयः) विद्वान् (रत्नधाः)

रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले (इन्द्रवन्तः) इन्द्र वाले तुम (यस्य मध्वः स्थः) जिसके मधुर गुणयुक्त पदार्थ को प्राप्त होते हो उसकी (पात) रक्षा करो।

६१. सजोषा इन्द्र वरुणेन सोमं सजोषाः पाहि गिर्वणो मरुद्भिः। अग्रेपाभिर्ऋतुपाभिः सजोषा ग्नास्पत्नीभी रत्नधाभिः सजोषाः ॥७॥

हे (इन्द्र) इन्द्र, राजन् ! (गिर्वणः) स्तुतियों से सेवनीय तू (वरुणेन सजोषाः) राष्ट्र के वरुणनामक अध्यक्ष के साथ मिलकर (मरुद्भिः सजोषाः) सैनिकों के साथ मिल कर (अग्रेपाभिः) आगे रहकर रक्षा करने वाले (ऋतुपाभिः) ज्ञान के द्वारा रक्षा करने वाले अथवा ऋतुओं में रक्षा करने वालों के साथ (सजोषाः) समान प्रीतिसेवी होकर (रत्नधाभिः) रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले (ग्नास्पत्नीभीः) वेदज्ञान की रक्षा करने वालां के (सजोषाः) साथ मिलकर (सोमं पाहि) उत्पन्न पदार्थों की रक्षा कर।

६२. सजोषस आदित्यैर्मादयध्वं सजोषस ऋभवः पर्वतेभिः। सजोषसो दैव्येना सवित्रा सजोषसः सिन्धुभी रत्नधेभिः ॥८॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ ! तुम (आदित्यैः सजोषसः) आदित्यों से मिलकर (मादयध्वम्) आनन्दित होवो (पर्वतेभिः सजोषसः) मेघों द्वारा उत्तम वृष्टि करके आनन्दित होवो। या यानों द्वारा मेघों में जाकर आनन्दित होवो। (दैव्येन सवित्रा) दिव्य सविता तथा (रत्नधेभिः सिन्धुभिः) रत्नों को धारण करने वाले समुद्रों से मिलकर आनन्दित होवो।

६३. ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा । ये अंसत्रा य ऋधग्रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥९॥

(ये ऋभवः) जो ऋभु (अश्विना) अश्वियों के लिये रथ (ये पितरा) जो पितरों के लिये जवानी (ये ऊती) जो अन्य रक्षा के साधनों को (ये अश्वा) जो वेगवान् पदार्थों को और (ये अंसत्रा) वेग की रक्षा करने वाले पदार्थों को (ये ऋधग् रोदसी) और जो यथार्थरूप में द्यावापृथिवी को तक्षण करते हैं। और (ये विभ्वः) जो विभ्वा (नरः) मनुष्य (स्वपत्यानि चक्रुः) सन्तति को उत्तम बनाते हैं।

६४. ये गोमन्तं वाजवन्तं सुवीरं रयिं धत्थ वसुमन्तं पुरुक्षुम् । ते अग्रेपा ऋभवो मन्दसाना अस्मे धत्त ये च रातिं गृणन्ति ॥१०॥

(ये) जो ऋभु (गोमन्तं) गौ आदि पशुओं वाले (वाजवन्तं) बलशाली (सुवीरं) उत्तम सन्तति पैदा करने वाले (वसुमन्तं) बसाने वाले (पुरुक्षुम्) बहुत धनधान्यपूर्ण (रयिम्) ऐश्वर्य को (धत्थ) धारण करते हैं। (ते अग्रेपा ऋभवः) वे आगे बढ़कर रक्षा करनेवाले ऋभु (मन्दसानाः) प्रसन्न चित्त हुए हुए (अस्मे धत्त) हमारे लिये ये सब ऐश्वर्य देव। और ऐश्वर्य उन्हें देवें (ये च रातिं गृणन्ति) जो कि आपके दान की स्तुति करते हैं।

६५. नापाभूत न वोऽतीतृषामानिःशस्ता ऋभवो यज्ञे अस्मिन् । समिन्द्रेण मदथ संमरुद्भिः संराजभी रत्नधेयाय देवाः ॥११॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (नापाभूत) हमसे दूर न होवो (न वोऽतीतृषाम) हम तुम्हें तरसाते नहीं (अस्मिन् यज्ञे आ निःशस्ता) इस यज्ञ में तुम्हारी हिंसा या निन्दा नहीं करते (देवाः) हे ऋभुओ ! (रत्नधेयाय) रमणीय पदार्थों को धारण कराने के लिये या पदार्थों में रमणीयता पैदा करने के लिये (समिन्द्रेण) इन्द्र के साथ (संमरुद्भिः) मरुतों के साथ (सं राजभिः) तथा अन्य देवों के साथ (मदथ) प्रसन्न होओ।

—इति ऋग्वेद ४ म०, ३४ सू०

(८)

[ऋभुओं की स्तुति]

६६. **इहोपयात शवसो नपातः सौधन्वना ऋभवो माप-भूत। अस्मिन् हि वः सवने रत्नधेयं गमन्त्विन्द्र-मनु वो मदासः ॥१॥**

हे (शवसो नपातः) बलहीन न होने वाले (सौधन्वनाः) उत्तम धनुर्धारी या उत्तम अन्तरिक्ष वाले (ऋभवः) ऋभुओ (इहोपयात) यहाँ हमारे पास आओ (मा अपभूत) हम से दूर न होओ (अस्मिन् सवने) इस तृतीयसवन में (हि) निश्चय से (वः रत्नधेयं गमन्तु) तुम्हारे रमणीय पदार्थों को हम प्राप्त होवें या पदार्थों में रमणीयता पैदा करें। (वः मदासः) तुम्हारे विद्या-विलास (इन्द्रमनु) राजा के अनुकूल होवे।

६७. **आगन्नृभूणामिह रत्नधेयमभूत् सोमस्य सुषुतस्य पीतिः। सुकृत्यया यत्स्वपस्यया च एकं विचक्र चमसं चतुर्धा ॥२॥**

(इह) इस यज्ञ में (ऋभूणां) ऋभुओं का (रत्नधेयमागन्) रमणीय पदार्थों का सञ्चय होवे (अभूत् सोमस्य सुषुतस्य पीतिः) और फिर अच्छी तरह से पैदा हुए ऐश्वर्य का पान होवे। (सुकृत्यया) उत्तम रचनाशक्ति से (स्वपस्यया च) और उत्तम कर्मों से (यत्) जिस (एकं चमसं) एक चमस को ये ऋभु (चतुर्धा विचक्र) चार प्रकार का बना देते हैं।

६८. व्यकृणोत चमसं चतुर्धा सखे विशिक्षेत्यब्रवीत।
अथैत वाजा अमृतस्य पन्थां गणं देवानामृभवः
सुहस्ताः ॥३॥

(व्यकृणोत चमसं चतुर्धा) चमस को चार प्रकार का करो—यह कहने का तात्पर्य है, (सखे) हे समानख्याति वाले ऋभु (विशिक्ष) अर्थात् विविध प्रकार की शिक्षा दो। (इत्यब्रवीत) इस प्रकार कहे। (अथ) इसके अनन्तर (वाजाः) वाज (देवानां गणं) देवताओं का समूह (सुहस्ताः ऋभवः) उत्तम हाथों वाले ऋभु (अमृतस्य पन्थामैत) अमरत्व के रास्ते को प्राप्त हुए।

६९. किंमयः स्विच्चमस एष आस यं काव्येन चतुरो
विचक्र। अथा सुनुध्वं सवनं मदाय पात ऋभवो
मधुनः सोम्यस्य ॥४॥

(एष चमसः) यह मस्तिष्क (स्वित्) भला (किंमयः) किस चीज का बना हुआ है। (यं) जिसको ऋभु (काव्येन) परमात्मा तथा क्रान्तदर्शी ऋषि महर्षियों के ज्ञान से (चतुरः विचक्र) चार में विभक्त कर देते हैं। (अथ) इस लिये (सवनं सुनुध्वम्) परिश्रम करो और (मदाय) आनन्द प्राप्ति

के लिये (ऋभवः) ऋभुओ (मधुनः सोम्यस्य पात) सोम अर्थात् विद्यासम्बन्धी मधुर रस का पान करो।

७०. शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्। शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः ॥५॥

(वाजरत्नाः) बलशाली, रमणीय पदार्थोंवाले हे (ऋभवः) ऋभुओ! तुमने (पितरा) द्यावापृथिवी को (शच्या) बुद्धि तथा शक्ति से (युवाना अकर्त) युवा बना दिया (शच्या) बुद्धि और शक्ति से (चमसं देवपानमकर्त) चमस को देवपान बनाया (शच्या) शक्ति और बुद्धि से (इन्द्रवाहौ) राजा का वहन करने वाले (हरी) विज्ञान और कला को (धनुतरावतष्ट) शीघ्र काम करने वाला बनाया।

७१. यो वः सुनोत्यभिपित्वे अह्नां तीव्रं वाजासः सवनं मदाय। तस्मै रयिमृभवः सर्ववीरमातक्षत वृषणो मन्दसानाः ॥६॥

(वृषणः) बलवान् अथवा सुखों की वृष्टि करने वाले (मन्दसानाः) आनन्द की इच्छा करने वाले (वाजासः) वाज (ऋभवः) ऋभुओ! (यः) जो भक्त (अह्नामभिपित्वे) ज्ञान की प्राप्ति में (वः) आप लोगों के लिये (तीव्रम्) अति उत्तम (सवनं) सवन (मदाय) आनन्द के लिये (सुनोति) पैदा करता है (तस्मै) उसके लिये आप (सर्ववीरंरयिं) सब प्रकार के वीर पुत्रों से युक्त ऐश्वर्य को (आतक्षत) उत्पन्न करो।

७२. प्रातः सुतमपिवो हर्यश्व माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते।

समृभुभिः पिवस्व रत्नधेभिः सखीं याँ इन्द्र चकृषे सुकृत्या ॥७॥

हे (हर्यश्व) कमनीय घोड़ों वाले राजन् (प्रातः सुतमपिवः) तू प्रातः सवन में उत्पन्न पदार्थों का सेवन कर (ते सवनं केवलं माध्यन्दिनम्) तेरा सवन केवल माध्यन्दिन ही है। और तृतीय सवन में (रत्नधेभिः) रत्नों को धारण करने वाले पदार्थों में रमणीयता पैदा करने वाले (ऋभुभिः) ऋभुओं के साथ (सम्पिवस्व) पदार्थों का सेवन कर। हे (इन्द्र) राजन् तूने (यान्) जिन ऋभुओं को (सुकृत्या) उत्तम रचना शक्ति के कारण (सखीन् चकृषे) मित्र बनाया है।

७३. ये देवासो अभवता सुकृत्या श्येना इवेदधि दिवि निषेद। ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वना अभवतामृतासः ॥८॥

(ये) जो ऋभु (सुकृत्या) उत्तम कर्म करने से (देवासः अभवत) देव बन गये, और (श्येना इव) बाज पक्षी की तरह (इत्) निश्चय से (दिवि अधिनिषेद) द्युलोक में चढ़ गये। (ते शवसोनपातः) वे बलहीन न होने वाले (सौधन्वनाः) उत्तम अन्तरिक्ष वाले (रत्नं धात) रत्नों को धारण करें या पदार्थों में रमणीयता पैदा करें और फिर (अमृतास अभवत) अमर बन जायें।

७४. यत्तृतीयं सवनं रत्नधेयमकृणुध्वं स्वपस्यया सुहस्ताः। तदृभवः परिषिक्तं व एतत् संमदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम् ॥९॥

(सुहस्ताः) सिद्धहस्त ऋभुओ (यत्) जो (स्वपस्यया) उत्तम कर्मों के द्वारा (तृतीयं सवनं) तृतीय सवन को (रत्नधेयमकृणुध्वम्) रत्नागार बनाओ अर्थात् तृतीयसवन में रत्नों को पैदा करो तब (ऋभवः) हे ऋभुओ (तत् वः) वह तुम्हारा (एतत्) यह रत्नागार (परिषिक्तं) तृतीय सवन में उत्पन्न पदार्थों से खूब सिक्त हुआ हुआ है इसको (संमदेभिरिन्द्रियेभिः पिबध्वम्) आनन्द देनेवाली इन्द्रियों से पान करो।

—इति ऋग्वेद ४ म०, ३५ सू०

(६)

[ऋभुओं के कार्य की प्रशंसा]

७५. **अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथ स्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः। महत्तद् वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥१॥**

हे (ऋभवः) ऋभुओ ! आपका बनाया हुआ (रथः) रथ (अनश्वः जातः) बिना घोड़े का है (अनभीशुः) और बिना लगाम का है। (उक्थ्यः) प्रशंसनीय है। (त्रिचक्रः) तीन चक्रों वाला है; और जोकि (रजः परिवर्तते) अन्तरिक्ष में घूमता है। हे (ऋभवः) ऋभुओ (यत्) जो तुम (द्यां) द्युलोक को (पृथिवीं च) और पृथिवी को (पुष्यथ) पुष्ट करते हो (तद्) वह पोषण (वः) तुम्हारा (महत्) महान् (देव्यस्य प्रवाचनम्) दिव्यत्व का परिचायक है।

७६. **रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया। तां ऊ न्वस्य सवनस्य पीतय आवो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥२॥**

(सुचेतसः) उत्तम चित्तवाले हे ऋभुओ ! (मनसस्परिध्यया) मन से सोच विचार कर जो तुमने (अविह्वरन्तम्) कुटिलगति से न चलने वाले अर्थात् दोषरहित (सुवृतं) उत्तम रचना वाले (रथम्) रथ को (चक्रुः) बनाया है। (तान् उ वः) उन तुमको हम (नु) निश्चय से (अस्य सवनस्य) इस तृतीय सवन के (पीतये) पान के लिये (आवेदयामसि) आवेदन करते हैं।

७७. तद्वो वाजा ऋभवः सुप्रवाचनं देवेषु विभ्वो अभवन् महित्वनम्। जिव्री यत्सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ ॥३॥

हे (वाजाः, ऋभवः विभ्वः) वाज, ऋभु और विभ्वा देवो (देवेषु) देवताओं में (तत्) वह (वः) तुम्हारा (महित्वनम्) माहात्म्य (सुप्रवाचनमभवत्) उत्तम ख्याति को प्राप्त हो गया है। (यत) कि तुम (सनाजुरौ) सदा से जीर्ण शीर्ण चले आरहे और अब भी (जिव्रीसन्तौ) जो जीर्ण हैं ऐसे (पितरौ) द्यावापृथिवी को (पुनः) फिर (चरथाय) गति में आने के लिये (युवाना तक्षथ) युवा कर देते हो।

७८. एकं विचक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिः। अथा देवेष्वमृतत्वमानश श्रुष्टी वाजा ऋभवस्तद्व उक्थ्यम् ॥४॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ (एकं चमसं) एक चमस को (चतुर्वयं विचक्र) चार में व्याप्त करो। और (धीतिभिः) कर्मों से (गां) पृथिवी को (निश्चर्मणः) चर्मरहित (अरि-

गीत) बनाओ। (अथ) इन्हीं कारणों से (देवेषु) देवताओं में (श्रुष्टी) जल्दी ही (अमृतत्वमानश) अमर हो जाते हो (वाजाः ऋभवः) हे वाज आदि ऋभुओ (तद् वः उक्थ्यम्) वह तुम्हारा उपर्युक्त कर्म प्रशंसनीय है।

७६. ऋभुतो रयिः प्रथमश्रवस्तमो वाजश्रुतासो यमजीजनन्नरः।
विभ्वतष्टो विदथेषु प्रवाच्योयं देवासोऽवथा
विचर्षणिः ॥५॥

(प्रथमश्रवस्तमः) प्रसिद्ध यशस्वी (रयिः) ऐश्वर्य (ऋभुतः) ऋभु से प्राप्त होता है। (वाजश्रुतासो नरः यमजीजनन्) वाज नामक मनुष्य जिस ऐश्वर्य को पैदा करते हैं वह प्राप्त होता है (विभ्वतष्टः) विभ्वा से तक्षण किया गया व्यक्ति (विदथेषु प्रवाच्यः) ज्ञानगोष्ठियों में प्रशंसित होता है। (यं देवासोऽवथा) जिसकी ऋभुदेवता सब तरह से रक्षा करते हैं (स विचर्षणिः) वह बुद्धिमान् हो जाता है।

८०. स वाज्यर्वा स ऋषिर्वचस्यया स शूरो अस्ता पृतनासु दुष्टरः। स रायस्पोषं स सुवीर्यं दधे यं वाजो विभ्वा ऋभवो यमाविषुः ॥६॥

(यं) जिसको (वाजः विभ्वा ऋभवः) वाज आदि ऋभु (आविषुः) रक्षा करते हैं (स वाज्यर्वा) वह बलवान् तथा शीघ्रगामी होता है (वचस्यया) ज्ञान के द्वारा (स ऋषिः) वह ऋषि की पदवी को पाता है (स शूरः) वह शूरवीर (अस्ता) शत्रुओं को परे फेंकने वाला और (पृतनासु दुष्टरः) सेनाओं में दुर्दम्य होता है (स रायस्पोषं) वह धन की पुष्टि को (स सुवीर्यं) और उत्तम वीर्य को (दधे) धारण करता है।

८१. श्रेष्ठं वः पेशो अधिधायि दर्शतं स्तोमो वाजा ऋभवस्तं जुजुष्टन। धीरासो हि ष्ठा कवयो विपश्चितस्तान् व एना ब्रह्मणा वेदयामसि ॥७॥

(वः पेशः) तुम्हारा रूप (श्रेष्ठं दर्शतं अधिधायि) श्रेष्ठ और दर्शनीय होता है। (वाजा ऋभवः) वाज ऋभुओ ! जो तुम्हारे लिये (स्तोमः) स्तोत्र पढ़ा जाता है (तं जुजुष्टन) उसका तुम सेवन करो। (धीरासः) हे ऋभुओ! तुम धीर (कवयः) क्रान्तदर्शी तथा (विपश्चितः स्थ) बुद्धिमान् हो (तान् वः) उन तुमको (एना ब्रह्मणा) इस ब्रह्मज्ञान से (आवेदयामसि) आवेदन करते हैं।

८२. यूयमस्मभ्यं धिषणाभ्यस्परि विद्वांसो विश्वा नर्याणि भोजना। द्युमन्तं वाजं वृषशुष्ममुत्तममानो रयिं ऋभवस्तक्षता वयः ॥८॥

हे (विद्वांसः ऋभवः) विद्वान् ऋभुओ! (यूयं) आप लोग (धिषणाभ्यस्परि) बुद्धियों से सोच-विचार कर (विश्वा नर्याणि) सब प्रकार के मनुष्यों के हितकारी (भोजना तक्षत) भोजनों अर्थात् भोग्य पदार्थों का निर्माण करो। (वृषशुष्मं) बलों के भी बल (द्युमन्तं वाजं) तेजस्वी अन्न को और (उत्तमं रयिं) उत्तम ऐश्वर्य को तथा (वयः) दीर्घायु (नः) हमारे लिये (तक्षत) तक्षण करो।

८३. इह प्रजामिह रयिं रराणा इह श्रवो वीरवत्तक्षता नः। येन वयं चितयेमात्यन्यान्तं वाजं चित्रमृभवो ददा नः ॥९॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ ! (इह) इस राष्ट्र में (प्रजाम्) सन्तति को (इह) और इस राष्ट्र में (रयिं) ऐश्वर्य को (रराणाः) प्रदान करते हुए (नः) हमारे लिये (वीरवत्) शूरवीर बनाने वाला (श्रवः) अन्न (तक्षत) उत्पन्न करो। (येन) जिससे (वयं) हम (अन्यान् अति) औरों को अतिक्रमण कर (चित-येम) ज्ञानी बनें (तं चित्रं वाजं) उस चयनीय अन्न को हे ऋभुओ ! (ददा नः) हमें देओ।

—इति ऋग्वेद ४म०, ३६ सू०

(१०)

[ऋभुओं की स्तुति]

८४. उपनो वाजा अध्वरं ऋभुक्षा देवा यात पथिभिर्देव-यानैः। यथा यज्ञं मनुषो विक्ष्वासु दधिध्वे रण्वाः सुदिनेष्वह्नाम् ॥१॥

हे (वाजाः) वाज तथा (ऋभुक्षाः) ऋभु (देवाः) देवो (देवयानैः पथिभिः) देवयानमार्गों से (नः अध्वरम्) हमारे हिंसारहित यज्ञ में (उप आयात) आओ। (यथा) जिससे (रण्वाः) ज्ञान में रमण करने वाले (मनुषः) हे मनुष्य ऋभुओ ! (आसु विक्षु) इन प्रजाओं में (अह्नां सुदिनेषु) ज्ञानप्राप्ति के उत्तम दिनों में (यज्ञं दधिध्वे) यज्ञ को धारण करते हो। अर्थात् नवीन ज्ञान प्राप्त होने पर प्रजाओं में उसको क्रियात्मक रूप देने के लिये यज्ञ कराते हो।

८५. ते वो हृदे मनसे सन्तु यज्ञा जुष्टासो अद्य घृतनि-र्णिजो गुः। प्र वः सुतासो हरयन्त पूर्णाः क्रत्वे दक्षाय हर्षयन्त पीताः ॥२॥

(ते यज्ञाः) वे यज्ञ (वः) तुम्हारे (हृदे) हृदय के लिये (मनसे) मनन के लिये (सन्तु) होवें। (जुष्टासः) सेवन किये हुए यज्ञ (अद्य) आज (घृतनिर्णिजः गुः) तेज के द्वारा पदार्थों को शुद्ध करने वाले होवें। हे ऋभुओ ! (वः) आप लोगों के (सुतासः) उत्पन्न किये हुए पदार्थ और उत्तम सन्तान (पूर्णाः) सब प्रकार से पूर्ण होकर (वः) तुम्हारे पास (हरयन्त) लाये जावें और (पीताः) तुमसे पान अर्थात् तक्षण किये हुए (क्रत्वे दक्षाय) कर्म तथा बल, उत्साह आदि की वृद्धि के लिये (हर्षयन्त) सब को खुश रक्खें।

८६. त्र्युदायं देवहितं यथा वः स्तोमो वाजा ऋभुक्षणो ददे वः। जुह्वे मनुष्वदुपरासु विक्षु युष्मे सचा बृहद्दिवेषु सोमम् ॥३॥

हे (वाजाः) वाज और (ऋभुक्षणः) ऋभुओ (यथा वः स्तोमः) जिस प्रकार तुम्हारा दिया हुआ ज्ञानसमूह (त्र्युदायं देवहितं [दत्ते]) पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक तीनों को बताने वाला है, और देवताओं को हितकारी ज्ञान देता है, उसी प्रकार मैं भी (वः) तुम्हें (स्तोमः) स्तुतिसमूह (ददे) प्रदान करूँ। और (मनुष्वत्) मननशील पुरुष की तरह (उपरासु विक्षु) श्रेष्ठ प्रजाओं में (सोमं जुह्वे) ऐश्वर्य का वितरण करूँ। और उसी प्रकार (बृहद्दिवेषु) बड़े बड़े ज्ञानान्वेषण में (सचा) संगत होकर (युष्मे सोमं जुह्वे) तुम्हारे लिये भी ऐश्वर्य का वितरण करूँ।

८७. पीवो अश्वाः शुचद्रथा हि भूतायःशिप्रा वाजिनः

सुनिष्काः । इन्द्रस्य सूनो शवसो नपातो नु वश्चेत्य-
ग्रियं मदाय ॥४॥

हे (वाजिनः) बलवान तथा अन्नवान् ऋभुओ ! तुम्हारे (पीवो अश्वाः) घोड़े मज़बूत हैं (शुचद्रथाः) रथ तेजोयुक्त हैं (अयः शिप्राः) और घोड़ों की हनू और नासिका लोहे की बनी हुई है (सुनिष्काः) और उत्तम सुवर्ण आदि आभूषणों से युक्त (भूत) है। हे (इन्द्रस्य सूनो) इन्द्र के पुत्रो ! (शवसोनपातः) बल से च्युत न होने वाले (वः) तुम्हारा ज्ञान व पुरुषार्थ (मदाय) आनन्द के लिये (अग्रियं) मुख्य और (अनुचेति) अनुकरणीय समझा जाता है।

८८. ऋभुमृभुक्षणो रयिं वाजे वाजिन्तमं युजम् । इन्द्र-
स्वन्तं हवामहे सदासातममश्विनम् ॥५॥

हे (ऋभुक्षणः) ऋभुओ (ऋभुं रयिं) हम ऋभुसम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त होवें और (वाजे वाजिन्तमम् युजम्) संग्राम में अत्यन्त बलवान् और कल्याण से युक्त (इन्द्रस्वन्तं) ऐश्वर्य सम्पन्न (सदासातमम्) हमेशा दान देने वाले (अश्विनम्) वेगवान् पदार्थों से युक्त आपके समूह को हम (हवामहे) बुलाते हैं।

८९. सेदृभवो यमवथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम् । स धीभिरस्तु
सनिता मेधसाता सो अर्वता ॥६॥

हे (ऋभवः) ऋभुओ (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य को (यूयं इन्द्रश्च) तुम और राजा (अवथ) रक्षा करते हो (स इत्) वह ही श्रेष्ठ होता है। (स धीभिः) वही उत्तम प्रजा और कर्मों से (सनिता) सदा ज्ञान और ऐश्वर्य का देने वाला (अस्तु)

होता है (मेधसाता) पवित्र यज्ञ करने, तथा धर्म के संग्राम में (सो अर्वता) वह उत्तम ज्ञानवाला तथा रणकुशल होता है।

९०. विनो वाजा ऋभुक्षणः पथश्चितन यष्टवे । अस्मभ्यं
सूरयः स्तुता विश्वा आशास्तरीषणि ॥७॥

हे (वाजा ऋभुक्षणः) वाज तथा ऋभुओ तुम (यष्टवे) यज्ञादि सत्कर्मों के लिये (नः) हमारे लिये (पथश्चितन) उत्तम मार्गों का निर्माण करो। हे (स्तुताः सूरयः) प्रशंसित विद्वान् पुरुषो ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (विश्वा आशाः) सम्पूर्ण दिशाओं को (तरीषणि) तैरकर पार जाने का सामर्थ्य दो।

९१. तं नो वाजा ऋभुक्षणः इन्द्र नासत्या रयिम् ।
समश्वं चर्षणिभ्यःआ पुरुशस्त मघत्तये ॥८॥

हे (वाजाः) तथा (ऋभुक्षणः) ऋभुओ और हे (इन्द्र) इन्द्र (नासत्या) और अश्वियो ! तुम सब (नः चर्षणिभ्यः) हम मनुष्यों के लिये (तं पुरु) उस प्रभूत (रयिं) ऐश्वर्य को (समश्वं) और उत्तम तथा गतियुक्त पदार्थों के समूह को (मघत्तये आशस्त) दान देने के निमित्त बताओ।

—इति ऋग्वेद ४ म० ३७ सू०

इत्योम्

श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग के वेद-विषयक ग्रन्थ

१. वेदामृत—(लेखक स्वामी वेदानन्दतीर्थ) भिन्न-भिन्न विषयों के वेद-मन्त्रों का अपूर्व संग्रह है। साथ में शब्दार्थ और भावार्थ भी दिए गए हैं। मूल्य २।।)

२. मरुत्—(पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार) अप्राप्य

३. सोम—(पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार) अप्राप्य

४. स्वर्ग—(पं० बुद्धदेव विद्यालङ्कार) अप्राप्य

५. वेद से वेदार्थ—(प्रो० रुलियाराम जी कश्यप एम. एस-सी.) ।)

६. त्रिदेव निर्णय—(पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ) ब्रह्मा, विष्णु, महेष का यथार्थ स्वरूप बतानेवाला ग्रन्थ। मूल्य ।।)

७. जीवन-ज्योति—(पं० चमूपति जी) सामवेद के पहले ११४ मन्त्रों की सरस, मनोमोहक व्याख्या। मूल्य १।।)

८. योगोपनिषत्—(लेखक स्वामी वेदानन्दतीर्थ) यजुर्वेद के ११वें के पहले ८ मन्त्रों की व्याख्या। जिसमें वैदिक योगविद्या का रहस्य बताया गया है।

९. ब्रह्मोद्योपनिषत्=प्रश्नोपनिषत्—(लेखक स्वामी वेदानन्दतीर्थ) वेद में अत्यन्त मार्मिक रीति से प्रश्नोत्तर द्वारा ब्रह्मविद्या के कई रहस्यों को सुलझाया गया है। उन मन्त्रों की यह व्याख्या है। मूल्य ।।)

१०. ऋभु देवता—(पं० भगवद्दत्त वेदालङ्कार) ऋभु-देवता-संबन्धी समस्त समस्याओं का समाधान। मूल्य ।।)

११. वेदार्षकोष—पेशगी मूल्य २५)

१२. ऋग्वेदशतक—(श्री स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती जी महाराज). मूल्य ।)

१३. वैदिक पीयूष-बिन्दु—(श्री पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ) प्रार्थनादि-संबन्धी एकसौ मन्त्रों का संग्रह। मूल्य ।-)

श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग, गुरुदत्त भवन, लाहौर।

वेद का स्वाध्याय करनेवालों

– के लिए –

अपूर्व ★ अनुपम ★ उपयोगी ★ ग्रन्थरत्न

वेदार्ष-कोष

आर्य प्रतिनिधि सभा के श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग से वेद के शब्दों का एक बहुत बड़ा उत्तम कोष तैयार कराया गया है। इसमें वैदिक शब्दों के अर्थ सङ्कलित किए गए हैं। ऐसा अच्छा और प्रामाणिक कोष वेद-विषयक आपको कहीं नहीं मिलेगा। संपूर्ण ग्रन्थ का छपने पर ६०) से अधिक म होगा। किन्तु छपने से पहले जो २५) म आर्डर भेजेंगे, उनसे डाक-व्यय भी नहीं लि जाएगा। पहला भाग छप चुका है।

[आर्य प्रतिनिधि सभा]

अधिष्ठाता—

श्रीचमूपति-साहित्य-विभाग, गुरुदत्त भवन, लाहौर